॥ ॐ ॥

श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द आदि आचार्यों द्वारा

तारणपंथ-समर्थन

(प्रथम भाग)

लेखक-प्रकाशक

चम्पालाल जैन

सोहागपुर

द्रव्यदाता—तारण समाज गंजबासोदा

प्रथम बार २०००	वीर सं० २४६७ / तारण सं० ४२५	मूल्य आठ आना

सावधान!

यह आपका पवित्र धर्म ग्रन्थ है।
इसमें आप के पूज्य आचार्यों के
आज्ञा वाक्य हैं। इस ग्रन्थ
को विनय-पूर्वक
रखियेगा।



— शास्त्रार्थ —

वर्तमान में जो शास्त्रार्थ मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज के साथ हमारी समाज का चल रहा है। उसमें मूर्ति–पूजक समाज ने जैनमित्र, जैन सन्देश, परवार बन्धु आदि पत्र तथा पुस्तकों, ट्रेक्ट, परचों आदि द्वारा जितने भी लेख हमारे प्रति प्रगट किये हैं व आगे जो प्रगट होंगे उन सब का उत्तर तारणबन्धु या ट्रेक्ट, पुस्तक, परचों द्वारा दिया जा रहा है व दिया जावेगा। तथा दि० जैन मूर्ति-पूजा विषय पर उसकी अनावश्यकता को सिद्ध करने वाला साहित्य शीघ्र ही वायुवेगसे प्रकाश में आनेवाला है। हमारे प्रत्येक ग्रन्थ व पुस्तक पर पाठक गण अपनी अमूल्य सम्मतियां प्रदान करते रहें ताकि उन सम्मतियों को प्रकाशित करके आपकी गुणग्राहकता का परिचय जनता को मिलता रहे।

* सूचना *

श्री कुन्दकुन्द स्वामी तथा तारण स्वामी ने जो तारणपंथ (मोक्षमार्ग) का एकसा समर्थन किया है यह बात उनके ग्रन्थों से ही पूरी तरह जानी जा सकती है। यहां पर तो हम सिर्फ अनावश्यक मूर्ति-पूजा जो दि० जैन समाज में प्रचलित है, मात्र इस एक ही विषय की इस पुस्तक में आचार्यों द्वारा जो अनावश्यकता बताई गई है उसे लिखेंगे। क्योंकि इस समय तारण समाज और मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज में "अनावश्यक दि० जैन मूर्ति-पूजा" विषय पर लिखित-शास्त्रार्थ चल रहा है ऐसे मौके पर यह पुस्तक पाठकों को उक्त विषय का निर्णय कराने में बहुत सहायक होगी ऐसी आशा है। प्रत्येक पाठक से निवेदन है कि इस पुस्तक को पूरा पढ़ कर अपनी शुभ सम्मति भेज कर शीघ्र अनुगृहीत करें जिससे हम दूसरे भाग में उन शुभ सम्मतियों को भी प्रकाशित कर सकें।

चंपालाल

प्रस्तावना

हिंसा-रहिओ धम्मो, अट्ठारसदोस-विरहियो देवो।
निग्गंथे पावयणे, सद्दहणे होइ सम्मत्तं॥

अर्थात्—जिस धर्म में हिंसा नहीं है वही धर्म है, जो अठारह दोषों से मुक्त हो गया है वही देव है और मात्र निर्ग्रंथ प्रवचन में श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है।

प्रिय पाठक वृन्द !

आज यह पुस्तक आपके कर कमलों में है। यद्यपि पूरी पुस्तक ही प्रस्तावना रूप है किन्तु इसकी प्रस्तावना लिखने के लिये लेखक ने आग्रह किया है अतः आवश्यक है कि पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ वाक्य लिख कर विज्ञ जनता के सामने रख दिये जाय। यह नियम है कि "कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती" अतएव प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में भी कुछ कारण अवश्य हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं मालूम होती कि जैन धर्म भारत का एक पवित्र प्राचीन धर्म है जो स्याद्वाद, अनेकान्तवाद आदि नामों से संसार में प्रसिद्ध है- परन्तु स्वार्थियों ने अपना मतलब हल करने के हेतु इसके पवित्र धर्म ग्रन्थों में कुछ ऐसी मिलावट कर दी है कि जिनसे इस पवित्र धर्म के महान आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रों के कलेवर दूषित हो गये हैं और फिर उन शास्त्रों के आधार पर भोली जनता आचरण क्रिया आदि करने लग गई है। जब शास्त्रों में स्वार्थियों द्वारा दोषों का समावेश कर दिया गया है तो उन शास्त्रों के आदेश अनुकरण करने वालों की क्रिया दोष रहित होगी ऐसा हो नहीं सकता। संसार में समाज के व्यक्तियों के आचरण क्रिया आदि से ही लोग उनके धर्म का पता लगाते हैं यही कारण है कि हमारे अनुचित एवं दूषित श्रद्धानादि द्वारा अन्य लोगों ने "जैन धर्म दूषित है" ऐसा समझ लिया है। वास्तव में इन लोगों ने जैन धर्म को यथार्थ नहीं जाना है। कोई इसे मिथ्यामत कहते हैं, कोई इसकी फ़िलोसफ़ी को ग़लत बताते हैं, कोई कहता है

कि जैन मत ईश्वर नहीं मानता, कोई कहता है कि यह तो नास्तिक मत है, बहुत से लोग कहते हैं कि ये लोग नग्न मूर्तियां पूजते शर्म नहीं खाते और कोई तो यहां तक कहते हैं कि—

"हस्तिना पीड्यमानेऽपि न गच्छेज्जिनमंदिरम्।

अर्थात्—हाथी के पैर के नीचे दब जाना अच्छा है पर जैनियों के मन्दिर में नहीं जाना चाहिये। इत्यादि आक्षेप आज दूसरी ओर से आते हैं और हमारे भाइयों को शर्मिंदा करते हैं। इन सब का कारण जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं साहित्य में दोषों का समावेश हो जाना है जिन पर कि हमने "बाबा-वाक्यं प्रमाणं" की नीति पर श्रद्धा रखते हुये कभी दृष्टिपात तक न किया और अंध-परंपरा द्वारा चले आये हुये साहित्य को न समझ सके जिसका कटुफल आज हमारे आपके समक्ष है।

जैन समाज को नैतिक एवं धार्मिक पतन की ओर ले जाने वाला एक कारण मूर्ति-पूजा सरीखे जड़वाद को अपनाना भी है। प्राचीन आचार्यों ने इसे अपनाने का कहीं भी आदेश नहीं दिया है।

जैनमार्ग में दो नय बताये गये हैं (१) निश्चय नय, (२) व्यवहार नय। वस्तु के असली अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को निश्चय नय कहते हैं अर्थात् (जैसे का तैसा कहना) और यथार्थ वस्तु से सम्बन्धित दूसरी वस्तु के जानने वाले ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जिस बर्तन में जल भरा हो उसे जल का घड़ा कहना व्यवहार-नय है। किन्तु हमारे मूर्ति-पूजक भाई इस व्यवहारनय की आड़ में निश्चयनय का घात कर देते हैं। इस व्यवहारनय से जैसे घड़े में जल होने से जल का सम्बन्ध घड़ा बताता है जो कि ठीक है। किन्तु इसी तरह पाषाण की एक कल्पित मूर्ति बनाकर उसे अर्हन्त मान लेना कहां तक ठीक है ? इस ज्ञान को व्यवहारनय से भी उचित कहना ठीक नहीं हैं।

इसी तरह जैन धर्म में चार निक्षेप बताये हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव।

हमारे बन्धु स्थापना निक्षेप के अनुसार अपनी मूर्ति-पूजा दुरुस्त कहकर भी उसकी उपादेयता सिद्ध करने की कोशिश करते हैं जो कि मात्र कोशिश ही है।

नाम निक्षेप—जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है उसको उस नाम से कहना। जैसे किसी ने अपने पुत्र का नाम पृथ्वीपति सिंह रखा यद्यपि उस बालक में नाम के अनुसार गुण नहीं हैं किन्तु उसे उसी नाम से पुकारते हैं। इसको नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेप—किसी वस्तु में किसी वस्तु की कल्पना कर लेने को स्थापना निक्षेप कहते हैं। इसी के अनुसार मूर्ति-पूजा आवश्यक है ऐसा बताया जाता है। किन्तु कल्पना में क्या वास्तविकता मिल सकती है? कभी नहीं। जैसे सतरंज के हाथी घोड़ों को वास्तविक हाथी घोड़ा मान कर उनसे सवारी आदि का कार्य नहीं लिया जा सकता। ठीक इसी प्रकार पाषाण की मूर्ति में अर्हंत की कल्पना कर उससे मुक्ति-मार्ग नहीं पूछा जा सकता और न वह कल्पित अर्हंत वास्तविक अर्हंत ही हो सकते हैं। अतः इस तरह भी मूर्ति के सम्बन्ध में स्थापना निक्षेप का उदाहरण देना अनुपयोगी सिद्ध है।

द्रव्यनिक्षेप—जो आगामी या भूतकाल की बात को वर्तमान में कहे। जैसे सेठ के पुत्र को सेठ कहना।

भाव निक्षेप—वर्तमान पर्याय-संयुक्त वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे राज्य करते हुये पुरुष को ही राजा कहना। इस तरह निक्षेपों का वर्णन आपके सामने है पर इनमें मूर्ति-पूजा का विषय लागू नहीं होता।

प्रिय पाठक वृन्द! एक नहीं अनेक शास्त्रीय प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि जैन धर्म मूर्ति-पूजक धर्म नहीं है जिनेन्द्र ने तो एक मात्र सर्व जीवों का कल्याणकारी संसार सागर से तारने वाला आध्यात्मिक "तारण पंथ" धर्म का उपदेश किया है। जिसे द्वादशांग रूप में गणधरों ने गुंथन किया है और जिसका श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य, योगीन्द्रदेव, पद्मनंदि, अमृतचंद्र स्वामी, पूज्यपाद स्वामी और समन्तभद्र जैसे सभी आचार्यों ने समर्थन किया है और फिर वही तारणपंथ श्री तारण स्वामी द्वारा चमकाया गया है। इससे सिद्ध है कि तारण पंथ कोई नवीन धर्म नहीं, जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म है।

यह ग्रंथ जो आपके हाथ में है ग्रंथ का प्रथम खंड है जिसमें श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जैन धर्म वास्तव में आध्यात्मिक

धर्म है यह जड़वाद का पुजारी नहीं है। इस ग्रंथ में पूज्य आचार्य की कही हुई गाथाएँ ज्यों की त्यों लिख दी गई हैं तथा उनका यथार्थ अर्थ भी लिखा गया है। विज्ञ पाठकों को इससे धर्म की यथार्थता मालूम हो जायगी। श्री कुन्दकुन्द आचार्य जी की इन गाथाओं को तो स्वार्थियों ने यहां तक कर डाला कि उनके भाव भी लोप करने में कसर न रखी और उन गाथाओं के मन-माने अर्थ बताकर जनता में प्रचार किये जाने लगे। ऐसा करना परमपूज्य आचार्य के प्रति क्या धोखा करना नहीं कहा जा सकता ? जबकि उनके पवित्र साहित्य में भी मिलावट करने की प्रथा चल निकली है तो और दूसरे साहित्य को क्या कहा जा सकता है और कहां तक उनके प्रमाण दिये जा सकते हैं।

इस खंड में तो मात्र श्रीमद् कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा ही तारणपंथ का समर्थन किया गया है, जो पाठकोंके हाथ में है। अगले अन्य खंडों में भी अन्य दिगम्बर आचार्यों द्वारा सैद्धान्तिक अकाट्य प्रमाणों द्वारा विषय का दिग्दर्शन कराया जावेगा। पाठक धैर्य और गंभीरता पूर्वक विचार

करें ताकि वस्तु-स्वरूप का यथार्थ निर्णय प्राप्त हो जावे।

यह बात हम डंके की चोट से कह सकते हैं कि जैन धर्म मूर्ति-पूजक धर्म नहीं है और जिन धर्मावलम्बियों के मत में मूर्ति-पूजा मूल में नहीं है। किन्तु जो महानुभाव इससे विपरीत अपनी इच्छानुसार चलेंगे अथवा अंधपरंपरा पर विश्वास करेंगे तो वे एक तो स्वयं घोर अंधकार में पड़ेंगे तथा अपने साथियों को भी उसी ओर ले जायंगे इस में संदेह ही क्या है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर साहब ने भी लिखा है कि यह बात हम दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि भारतवर्ष तत्वज्ञान सम्बन्धी विचारों की एक बड़ी भारी असामान्य पूंजी थी जो भाषा की तरह किसी खास मनुष्य की नहीं थी और जिसका प्रत्येक विचारशील मनुष्य वायु की तरह श्वास लेता था। केवल इसी बिनापर यह कहा जा सकता है कि हमको भारतवर्ष के करीब २ सब न्याय दर्शनों में ऐसे ख्यालात मिलते हैं जिनको सब तत्व जानने वाले अंगीकार करते मालूम होते हैं और किसी एक खास पुरुष से सम्बन्ध नहीं रखते।

संसार के सब महापुरुषों ने अपने जीवनमें अध्यात्मवाद को ही स्थान दिया है, उन्होंने न्याय की तराजू पर अध्यात्मवाद के पलड़े को ही वज़नदार पाया है और अपने अनुयायियों को भी उसी के अनुसार चलने का आदेश दिया है।

महामंत्र णमोकार मंत्र में भी पांच परमेष्ठियों को ही नमस्कार किया गया है। यदि पाषाण मूर्ति भी नमस्कार योग्य होती तो इस मंत्र के पांच नमस्कार के साथ यह छठा नमस्कार भी जुड़ा होता। जब मंत्रमें संसार के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है और आजकल के साधु लोग जब मूर्ति को नमस्कार करते हैं तब क्या कारण है कि उक्त मंत्र में मूर्ति को नमस्कार करने का एक वाक्य न जोड़ा गया? इससे भी सिद्ध है कि वर्तमान मूर्ति-पूजा और मूर्ति-नमस्कार कल्पित क्रिया है।

श्रावक की त्रेपन क्रिया और षट्कर्म में भी कहीं आचार्यों ने "मूर्ति-पूजा" क्रिया या कर्म का विवेचन नहीं किया है। ग्यारह प्रतिमा (ग्यारह पडिमा) में भी कोई मूर्ति-पूजा प्रतिमा नहीं है इत्यादि सभी बातों का

प्रस्तुत ग्रंथ में विस्तार सहित विवेचन किया गया है।

मूर्ति के साथ कई लीलाएँ खेली जाती हैं जैसे पंच कल्याणकों का करना, आह्वान, विसर्जन, स्थापना, सन्निधिकरण आदि जो कि जैनागम के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। उन मुक्तात्माओं को जो कि कभी मोक्ष से वापिस हो ही नहीं सकते उनको संसार में बुलाना और उनके साथ मनमानी क्रीड़ा करना क्या उनके प्रति हंसी करना नहीं है? इन सब बातों का निराकरण इस पुस्तक में खूब खुलासा किया गया है।

जैन समाज इस समय भिन्न २ प्रकार की कल्पित पद्धतियों को अपना कर अपनी प्राचीन संस्कृतिसे विमुख होता जा रहा है इस परिस्थिति का सब महानुभावों को सच्चे हृदय से विचार करना चाहिये और यदि वास्तव में वे अपने को कल्पित मार्ग की ओर जाता हुआ पाते हों तो क्षण भर के लिये वहीं रुक कर हृदय से ही सच्चे मार्ग का पता पूछें, अवश्य मिल जायगा। और इतने पर भी वे अभिमान वश गलत मार्ग से हटकर इच्छित स्थान के पाने की कोशिश न करेंगे तो वह एक महान भूल पर

भूल होगी।

अन्त में पाठकों से हमारी यही विनम्र प्रार्थना है कि कम से कम एक बार इसे आदि से अन्त तक निष्पक्ष दृष्टि से पढ़ जावें और उस पर विचार करें, तथा अपने मन को न्यायाधीश बनाकर ज़रा पूछें तो, कि वह किस ओर फ़ैसला देता है।

यदि किसी बन्धु को पुस्तक के किसी विषय में किसी प्रकार की शंका हो तो लेखकसे वह सहर्ष समाधान कर सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक है कि शंका लेखक तक पहुंच जानी चाहिये।

भवदीय—

ताराचन्द्र जैन



श्री १०८ श्रीमत्तारणतरण मंडलाचार्य महाराज
का संक्षिप्त

—: परिचय :—

तीर्थङ्करों के इस तारणपंथ का पुनरुद्धार करने वाले पूज्य महात्मा तारणतरण स्वामी विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ काल में (सं० १५०५) श्री गढ़ाशाह जी के यहां पुष्पानगरी में अवतरित हुये। स्वामी जी की माता 'वीर श्री' थी। आप बाल्यकाल से ही अत्यंत प्रतिभाशाली थे। तथा आपका क्षयोपशम भी तीव्र था। आप श्री गढ़ाशाह जी के साथ सेमरखेड़ी ग्राम में भी निवास कर चुके हैं ऐसा वहां के प्राचीन स्मारकों से पता चलता है। तथा इसी सेमरखेड़ी के वन में आप का दीक्षास्थान भी है जहां पर कि अभी विशाल मंदिर जी (चैत्यालय जी) शोभायमान है। श्री तारणस्वामी जी महाराज का समाधिस्थान श्री निसई जी (मल्हारगढ़)

रियासत ग्वालियर में वेतवा के तट पर वन में बड़ी सुहावनी जगह पर है, जहां पर आज एक विशाल भवन लाखों रुपया लगा कर तारण समाज ने निर्मापित कर दिया है।

श्री स्वामी जी महाराज बालब्रह्मचारी थे, इन्होंने अपने तप तेज बल द्वारा आध्यात्मिक जीवन में चौदह ग्रन्थरत्न बनाये जिनमें अध्यात्मवाद का अत्यत सरलता पूर्वक उपदेश दिया है। आपके साहित्य में सिवाय अध्यात्मवाद के और दूसरी दिखाऊ क्रियाएं तथा मूर्ति-पूजा सरीखे व्यर्थाडम्बर को लेश मात्र भी स्थान नहीं दिया गया है बल्कि अपने तारणपंथ सम्प्रदाय से ही ऐसी अनावश्यक बातों को बहुत दूर रखा है।

स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपना जीवन चरित्र नहीं दिया है, न कहीं प्राप्त ही हुआ है। हो सकता है कि ऐसे मुमुक्षु तथा विशाल हृदय महात्मा ने प्रतिष्ठा कीर्ति आदि से बचकर ही अपना व दूसरों का कल्याण करने में ही कर्तव्य-पालन समझ कर ऐसा किया हो इसी लिये उन्हों ने अपना परिचय कहीं भी नहीं दिया है।

हां, यदि उनके जीवन चरित्र की वास्तविक झलक देखनी हो तो उनके पवित्र साहित्य को देखकर ही उनकी आध्यात्मिकता का पता लगा सकते हैं।

फिर भी विद्वेषियों ने उनका कल्पित जीवन चरित्र बना कर समय २ पर झूठी किंवदन्तियों द्वारा उनके सम्प्रदाय पर अत्याचार-पूर्ण आक्रमण किये तथा अभी भी इसी प्रकार मिथ्या प्रचार करके अपनी कुटिल नीति को उपयोग में ला रहे हैं। हम पाठकों से निवेदन कर देना चाहते हैं कि तारण समाज द्वारा ऐतिहासिक व प्रामाणिक खोज-पूर्ण स्वामी जी का जीवन चरित्र जबतक प्रगट न हो जावे तब तक धैर्य रखें। तथा इन परवारबन्धु व जैन हितैषी, जैनमित्र, जैन-संदेश आदि पत्रों में प्रकाशित कपोल-कल्पित जीवन-चरित्रों पर बिलकुल विश्वास न करें। क्योंकि ये सब द्वेषपूर्ण वातावरण द्वारा तारण समाज को बदनाम करने की गरज से ही षड्यन्त्र किये जा रहे हैं।

सम्बत १५७२ में स्वामी श्री तारणतरण महाराज की समाधि श्री निसई जी में हुई थी।

श्री तारणस्वामी जी ने अपने जीवन में ५-६ लाख जीवों का अंधविश्वास दूर करके वास्तविक मोक्ष मार्ग में उन्हें लगाया था। इस समय स्वामी जी के सम्प्रदाय में छह संघ हैं। जिनमें समैया संघ परवारों से तारणपंथी हुआ था। और चरणागर नामक संघ गहोई वैश्यों को सम्बोधित करके स्थापित किया था। चरणागार समाज की उत्पत्ति गहोई वैश्यों से है इस पर एक पृथक ही इतिहास की खोज से पुस्तक प्रकाशित हो रही है जिसमें विस्तार पूर्वक चरणागर समाज का इतिहास प्रगट होगा। इसी प्रकार असैठी संघ तथा अयोध्या-वासी संघ भी सम्बोधित किये गये हैं। गोलालारे तथा दुसके संघ मूर्ति-पूजक जैन संघ से तारणपंथी बनाये गये हैं। यह सब संक्षिप्त में लिखकर हम अपने लेख को समाप्त करते हैं। इस विषय पर एक पृथक ग्रन्थ अलग लिखा जा रहा है जो प्रकाशित होकर पाठकों के कर कमलों में शीघ्र उपस्थित होगा।

जिन सज्जनोंको तारण स्वामीजोके ग्रंथ न मिले हों वे दानवीर सेठ मन्नूलालजी आगासौद को लिखकर मंगा लें।

श्री गुरु तारण स्वामी जी के
आध्यात्मिक साहित्य के विषय में
मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज के प्रतिष्ठित विद्वान् जैन-
धर्म भूषण धर्म दिवाकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद
जी साहब के अपूर्व

हार्दिक-उद्गार

इस ज्ञान समुच्चय सार ग्रन्थ में निश्चयनय की या अध्यात्मज्ञान की मुख्यता लिये हुये बहुत सा उपयोगी जानने लायक कथन है। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकार के चारित्र के साधक, धर्मात्माओं के लिये उपयोगी है। श्रावकाचार का उल्था करने के पीछे उक्त त्यागी की आत्मभक्ति और सिद्धान्तज्ञान देख कर मेरे यह भाव हुये कि मैं इनके दूसरे ग्रन्थों का भी उल्था करके जगत के कल्याण के हेतु प्रकाश कराऊं। जितना

जितना मैं ग्रन्थ का उल्था करता हुआ आगे बढ़ता जाता था उतना २ मेरा प्रेम ग्रन्थ कर्ता (तारण स्वामी) से बढ़ता जाता था।

श्री जिन तारणतरण स्वामी के गुणों में अनुराग ने ही मेरे भावों में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जिससे मैं उक्त स्वामी जी के भाव को समझ कर भाषा में भावार्थ लिख सका। इसमें मेरा कोई कृत्य नहीं है, यह परम विद्वान् उक्त स्वामी जी का ही प्रताप है।

ता० २५-६-३३ (ज्ञान समुच्चय सार)

ममलपाहुड़ के कर्ता श्री जिन तारणतरण स्वामी बड़े भारी जैन सिद्धान्त के ज्ञाता और अध्यात्म रस के प्रेमी महात्मा इस मध्य प्रान्त में हो गये हैं। यह अच्छे ज्ञान योग के पंडित आत्म-रसिक थे ऐसा स्वामी जी द्वारा रचित ग्रन्थों से झलकता है इस ममल पाहुड़ ग्रन्थ में अध्यात्म रस से पूर्ण अनेक चाल (छंद) को लिये हुये भजन हैं, जिनको गाने और अर्थ समझने से मन इकदम अध्यात्म-रस में मगन हो जाता है। गंभीर और सूक्ष्म आत्मानुभव की छटा पद २ पर झलक रही है। इस ग्रन्थ का उल्था बहुत कठिन कार्य था परन्तु श्री

जिनेन्द्र के चरण प्रताप से व श्री स्वामी तारणतरण जी के स्मरण से यथाशक्ति अर्थ को ठीक समझ कर उसका भावार्थ खोला गया है।

ता० २६-६-३५ (ममलपाहुड़ प्र० भा०)

"उल्था करते हुये जितना २ मैं अधिक २ विचार करता था उतना २ अधिक मुझे इस बात का विश्वास होता जाता था कि श्री तारण स्वामी जैन सिद्धान्त के मर्मी थे जैन शास्त्रों के व्यवहार तथा निश्चय नय से जानने वाले थे। अध्यात्म के पूर्ण विशारद थे। सूक्ष्म भावों के पहिचानने वाले थे। सदाचारी थे और पूर्ण जिनवाणी की परम्परा के सच्चे भक्त थे। और श्री जिनवाणी के अनुसार ही लिखना अपना धर्म समझते थे। तथा आत्मध्यान व समताभाव के अच्छे अभ्यासी थे। उनके आत्मीक गुणों में मेरी भक्ति इतनी हो गई है कि मैं मन वचन काय से उनकी परोक्ष वंदना करता हूं। तथा यह बड़े भारी उपदेश-दाता थे इन्हीं के उपदेश से हजारों लाखों मानवों ने यथार्थ अध्यात्मज्ञान का लाभ लिया था।

ता० ३-६-३४ (उपदेश शुद्धसार)

" इस में कोई सन्देह नहीं है कि यह दि० जैन आम्नाय के अनुसार मुख्यता से जैन ग्रन्थों के ज्ञाता थे। व अध्यात्म की गाढ़ रुचि रखते थे"।

" मुझे श्री तारणतरण स्वामी रचित अध्यात्म साहित्य को सूक्ष्मदृष्टि से मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थों की टीका करने से मेरी शक्ति और मेरे समय का बहुत ही अच्छा उपयोग हुआ। मेरी भावना है कि तारणतरण समाज के नरनारी व सर्व दिगम्बर जैनी व अन्य सर्व श्वेताम्बर जैनी व सब वैराग्य-प्रेमी जन समूह तारण स्वामी के वाक्यों को पढ़ें। और विचार करें। ये वाक्य मोक्षद्वीप पहुंचाने के लिये वास्तव में तारण हैं या जहाज हैं।

१३-१०-३६ (ममल पाहुड़ दूसरा भा०)

नोट—और भी श्री तारण स्वामी जी के अन्य ग्रन्थों की टीका करते हुये श्री ब्र० शीतलप्रसाद जी ने जो अपने उद्गार उन ग्रन्थों की भूमिका आदि में प्रगट किये हैं, हम उन्हें तारणपंथ समर्थन के दूसरे भागमें प्रगट करेंगे।

भयदीय—चंपालाल जैन

* वन्दे श्रीगुरुतारणम् *

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दादि आचार्यों द्वारा

तारणपंथ-समर्थन

मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है सम्यग्दर्शन से, तथा वह सम्यग्दर्शन आत्मा की निजी वस्तु है। सम्यग्दर्शन निश्चय तथा व्यवहाररूप से दो भेद वाला है, निश्चय सम्यग्दर्शन तो बिलकुल आत्मा के निकट की, या आत्मा की ही वस्तु है, किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन भी आत्मा की ओर ही पहुंचाने वाला मार्ग है; अर्थात् इस व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्ष्य बिन्दु भी केवल "आत्मा" ही है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन वाला भी वस्तु का "तत्त्वार्थश्रद्धानं०" के अनुसार ज्यों का त्यों श्रद्धान करता है। "मूर्ति में जिनेन्द्र व जिनेन्द्र को मूर्ति में" इस प्रकार का औंधा-सीधा श्रद्धान उस व्यावहारिक सम्यग्दृष्टि से लाखों कोस दूर भागता है। वह तो जो वस्तु जिस रूप है, उसको उसी रूप देखता तथा जानता है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन व्यवहार या निश्चयरूप जिसकी आत्मा में हो जाता है, वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यह सम्यग्दृष्टि पद ही मोक्षमार्ग का प्रारंभिक सोपान है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। इसी बात को पूज्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने अष्टपाहुड़ के दर्शन पाहुड़ में कहते हैं—

दंसणमूलो धम्मो,
उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे-
दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥२॥

अर्थः—धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, ऐसा जिनेन्द्र

से अपने शिष्यों के प्रति उपदेश किया है, उस सम्यग्दर्शन को सुनकर भव्य जीव को चाहिये कि सम्यग्दर्शन-हीन को वंदना नहीं करें।

यहां श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सम्यग्दर्शन हीन को " ण वंदिव्वो " वन्दना नहीं करना चाहिये, ऐसा समझाया है। जब सम्यग्दर्शन से हीन " आत्मा " वंदनीय नहीं है फिर आत्मा—रहित जड़स्वरूप मूर्ति क्या सम्यग्दर्शन युक्त है? यदि मूर्ति सम्यग्दर्शन युक्त नहीं है। तो क्या नमस्कार करने योग्य है? या नमस्कार करते समय उसमें सम्यग्दर्शन आ जाता है। जब कहीं से किसी समय भी सम्यग्दर्शन का मूर्ति में आना या होना सम्भव नहीं है, फिर क्यों व किस प्रयोजन से मूर्ति को नमस्कार किया जावे? हमारे मूर्ति-पूजक दिगम्बर जैन भाई फिर क्यों बिना प्रयोजन की नमस्कार, पूजनादि क्रियाएं मूर्ति के सन्मुख नित्य प्रति किया करते हैं? श्री कुन्दकुन्दआचार्य महाराज की उक्त गाथानुसार हमारे मू० पू० बन्धुओं को मूर्ति-पूजन करना छोड़ देना

चाहिये। सम्यग्दर्शन से हीन चाहे चेतन हो या अचेतन वह सर्वथा अवंदनीय है। अब यहां कोई यह कहे कि मूर्ति में सम्यग्दर्शन न हो तो न सही? शायद कोई और दूसरा गुण हो तो भी नमस्कार करना या नहीं? इसके उत्तर में यही कहा जावेगा, कि आत्मा का मुख्य और प्रथम गुण सम्यग्दर्शन जिसमें नहीं है उसमें एक तो दूसरे गुण ही नहीं पाये जा सकते, यदि पाये जा सकते हैं, तो बताइये? जिसकी मूर्ति हो उसी के गुण उसमें पाये जाने चाहिये, तब हम कह सकते हैं कि मूर्ति को अवश्य नमस्कार करना चाहिये? क्या अरहंत की मूर्ति में छयालीस गुण तथा सिद्ध की मूर्ति में आठ गुण पाये जा सकते हैं? यदि इन मूर्तियों में मूर्तिमानके एक भी गुण नहीं पाये जा सकते, तो फिर क्योंकर उस गुणहीन मूर्ति को पूज्य मानते हैं? जरा कुन्दकुन्द स्वामी की तो सुनिये वे इस विषय में क्या कहते हैं—

णवि देहो वंदिज्जइ—

णवि य कुलो णवि य जाइसंजुत्तो।

को वंदमि गुणहीणो-

ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

(दर्शन पाहुड)

अर्थः—देह बंदनीय नहीं है, कुल तथा जाति-संयुक्त भी कोई बंदनीय नहीं है, आचार्य जोर देकर कहते हैं कि गुणहीन कौन बंदनीय है ? अपितु—कोई नहीं। गुण-हीन न मुनि बन सकता है, न श्रावक ही बन सकता है। जब कुन्दकुन्द आचार्य महाराज जैसे धुरंधर व प्रमाणिक आचार्यों की यह आज्ञा है कि कोई भी हो यदि वह गुणहीन है तो वह कदापि बंदनीय नहीं हो सकता। जब गुणहीन " आत्मा " सरीखी चीज भी बंदनीय नहीं हो सकती तब कल्पित मूर्ति जो कि जड़ स्वरूप है कैसे बंदनीय हो सकती है ? अपितु—कदापि नहीं। फिर क्यों इस आज्ञाको उल्लंघन करके मूर्ति-पूजन की जाती है। हमारे मूर्ति-पूजक दिगम्बर जैन भाई या तो मूर्ति में मूर्तिमान के समस्त गुण बतावें, या मूर्ति-पूजा छोड़ दें, अथवा नहीं तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज की उक्त गाथा

को असत्य सिद्ध करें। श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य महाराज अपने मोक्ष पाहुड़ में अज्ञानी तथा ज्ञानी की परिभाषा कितनी स्पष्ट समझा रहे हैं ज़रा हमारे मूर्ति-पूजक भाई इस गाथा को गौर से पढ़ें—

अच्चेयणं पि चेदा-
जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी !
सो पुण णाणी भणिओ,
जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥
(मोक्षपाहुड़)

अर्थः—अचेतन को जो चेतन मानता है वह अज्ञानी है, तथा ज्ञानी वही है जो चेतनको ही चेतन मानता है।

विचार करने की बात है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी की यह आज्ञा, (ज्ञानी अज्ञानी की परिभाषा) सामने रहते हुए भी जान बूझ कर लोग क्यों भूलते हैं। यह एक दुर्भाग्य की बात है जो हाथ में दीपक रहते कूप में गिर पड़ना। अर्हंत की तथा सिद्ध की मूर्ति जो कि प्रत्यक्ष अचेतन है उसे चेतन मानकर नमस्कार पूजनादि करने

वाला श्री कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञानुसार तो अज्ञानी है, यदि वह अपने मन में अपने को ज्ञानी समझे तो पाप का भागी है। एक तो झूठा अभिमान का पाप दूसरे श्री गुरु की उक्त आज्ञा के लोप का पाप। इस तरह मूर्ति-पूजन में तो सिवाय पापार्जन के कल्याण कुछ भी नहीं मालूम होता है। गुणों के पुजारी का कर्तव्य है कि गुणों के धारक को ही वंदना करे इस पर श्री कुन्दकुन्द स्वामी क्या कहते हैं—

दंसणणाणचरित्ते-
तवविणये णिच्चकाल पसत्था।
एदे दु वंदणीया-
जे गुणवादी गुणधराणं॥२३॥

(दर्शनपाहुड)

अर्थः—दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तप विनय में लवलीन गुणधारी पुरुष ही गुण-वादियों द्वारा वंदनीय है, अन्य नहीं।

अब विचारिये कि प्रतिमा (मूर्ति) जो अचेतन (जड़-

स्वरूप) है, उक्त गुणों में से कितने गुणों में लवलीन हैं, यदि उक्त रत्नत्रयादि गुणों में से एक भी गुण उस में नहीं है तब वह कैसे व क्योंकर बंदनीय हो सकती है ?

यदि इतने पर भी कोई ऐसी मूर्ति को माने; नमन, पूजन आदि क्रियाएं उसके समक्ष करे तो यह उसकी बुद्धिमानी नहीं है।

और भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज दर्शन-पाहुड़ के अंत में स्थावर प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं—

विहरदि जाव जिणिंदो-
सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो।
चउतीस अइसयजुदो-
सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥
(दर्शनपाहुड़)

अर्थः—एक हजार आठ लक्षणों सहित चौंतीस अतिशय युक्त समवशरण के द्वारा विहार करते हुए साक्षात् जिनेन्द्र ही "स्थावर प्रतिमा" हैं। गुणों ने स्थायी निवास जिनमें कर लिया है, इस लिये स्थावर

कहा जाता है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी यह स्थावर प्रतिमा का स्वरूप जिस प्रकार कह रहे हैं, निश्चय पूर्वक इसी प्रकार की साक्षात् केवलज्ञानमयी (स्थायी गुण-युक्त) " जिनेन्द्र की मूर्ति ही पूज्य हो सकती है " अन्य जड़ स्वरूप स्थावर मूर्तियां पूज्य नहीं हो सकती हैं। आगे जंगम प्रतिमा का भी स्वरूप सुन लीजिए—

सपरा जंगमदेहा-
दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथ वीयराया-
जिणमग्गे एरिसा पड़िमा ॥१०॥
(बोध पाहुड़)

अर्थः—अपनी उत्कृष्ट जंगम देह जो कि दर्शन ज्ञान तथा शुद्ध चारित्र-युक्त और निर्ग्रन्थ वीतरागता युक्त हो वही जिनमार्ग में ऐसी प्रतिमा कही जाती है। स्थावर तथा जंगम प्रतिमा के गुण ऊपर दो गाथाओं में कहे गये हैं। अब पाठक वृन्द! उक्त स्थावर तथा जंगम इन

दोनों के गुणों को पाषाण मूर्ति में घटाकर देखिये और निर्णय कीजिये कि उक्त गुणों में से कितने गुण पाषाण मूर्ति में मिलते हैं। यदि स्थावर प्रतिमा के एक हजार आठ लक्षण, चौंतीस अतिशय आदि उसमें नहीं हैं, तो वह पाषाण-मूर्ति कदापि पूज्य नहीं है। तथा जिसमें जंगम प्रतिमा के गुण सम्यग्दर्शनादि तथा निर्ग्रंथ वीतरागता आदि गुण भी नहीं वह पाषाण मूर्ति जिनेन्द्र के मार्ग में पूज्य हो ही नहीं सकती। आगे और भी बन्दनीय प्रतिमा का स्वरूप श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

जं चरदि सुद्धचरणं—
जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया—
णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

(बोध पाहुड़)

अर्थः—जो शुद्ध चारित्र का आचरण करे तथा सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाने व शुद्ध सम्यक्त्व के द्वारा निज पर की पहिचान रखे वह वंदनीय निर्ग्रन्थ संयतों की

(तीर्थङ्करों व मुनियों की साक्षात्) प्रतिमा ही पूज्य है।

प्रिय पाठक वृन्द ! पाषाण मूर्तिमें उक्त शुद्ध चारित्र आदि का पालन करना घटावें कि इन चारित्र आदि आत्मीय गुणों को वह पाषाण की निर्जीव मूर्ति कैसे पालन कर के पूज्य बन सकती है ? श्री कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञानुसार तो वह कदापि पूज्य नहीं है क्योंकि उक्त अचेतन मूर्ति में आत्मीय गुणों का पाया जाना आकाश के फूल की तरह बिलकुल ही असम्भव है। और भी निश्चल प्रतिमा का स्वरूप सुनिये।

निरुवममचलमखोहा–
निम्मिविया जंगमेण रूवेण।
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया–
वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

(बोधपाहुड़)

अर्थः—निरुपम अचल अक्षोभ निश्चलनिर्मापित सिद्ध स्थान (मोक्ष) में स्थित, ध्रुव ऐसी यह व्युत्सर्ग-सिद्ध प्रतिमा जानना चाहिये। आगे और भी जिन-बिम्ब का

स्वरूप सुन लीजिये—

जिणबिम्बं णाणमयं-

संयमसुद्धं सुवीयरायं च।

जं देइ दिक्खसिक्खा-

कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

(बोध पाहुड़)

अर्थः—ज्ञानमय, संयम से शुद्ध, सुवीतराग, दीक्षा शिक्षा-दायक, तथा कर्मों के क्षय का कारण व शुद्ध स्वरूप जो हो सो जिनबिम्ब है। अब जिनबिम्ब के भी उक्त समस्त ज्ञानादि गुणों को पाषाण मूर्ति के बिम्ब में मिलान कर देखिये। और कुन्दकुन्द स्वामी के उक्त वाक्यों को अपनी हृदय कसौटी पर कस लीजिये, तथा जिनेन्द्र को साक्षी करके उनके सिद्धान्तानुसार विचारिये कि क्या यह पाषाण प्रतिमा कभी पूज्य हो सकती है? आगे और भी नमन पूजन, विनय वात्सल्य करने योग्य प्रतिमा का निरूपण करते हैं।

तस्स य करह पणामं-

सव्वं पुज्जं च विणयवच्छल्लं।

जस्स य दंसणणाणं–

अत्थि धुवं चेयणा भावो ॥१७॥

(बोधपाहुड़)

अर्थ –उसे ही प्रणाम करो, उसकी ही सब तरह पूजा करो विनय तथा वात्सल्य भी उसी का करो, जिस के पास दर्शन ज्ञान तथा ध्रुव (अविनाशी) चेतना के भावों का सद्भाव हो इस प्रकार यहां तक की समस्त गाथाओं में श्री स्वामी कुन्दकुन्द आचार्य महाराज कितना स्पष्ट करते आ रहे हैं, कि एक "नासमझ" आदमी भी उनकी इस सरल समझायस को सहज में हृदयंगम कर सकता है। अब हमारे विज्ञ पाठक वृन्द, अष्ट पाहुड़ ग्रंथ (श्री कुन्दकुन्द स्वामी विरचित) को अपने सामने रख लेवें और ऊपर जितनी गाथायें हम लिख आये हैं। उनका अक्षरशः मिलान करते हुए, शब्दार्थों में कुन्दकुन्दाचार्य की आज्ञा का पता लगावें कि वास्तव में उन्होंने पाषाण मूर्ति-पूजन के इस ढोंग का

कितना भण्डा-फोड़ किया है। और अपनी सर्व शक्तियों द्वारा कितना भ्रम निवारण कर दिया है, कि पाषाण मूर्ति की सिद्धि करने के लिये उक्त गाथाओं के समक्ष कोई चूं भी नहीं कर सकता किन्तु फिर भी स्वार्थियों ने अपने स्वार्थ को पुष्ट करने के लिये, उक्त समस्त गाथाओं के अर्थ को महाविपरीत अनर्थ रूप में गढ़कर कैसा अन्धेर खाता मचाया, कि वास्तविकता का नामो-निशां भी मिटाने की कोशिश से न चूके। परन्तु हमारा आग्रह है कि जिन पाठकों को इन गाथाओं के अर्थ में अभी भी संशय हो, वे अपने परिचित विश्वस्त तथा निष्पक्ष किसी शब्द-शास्त्री विद्वान के पास जाकर इन गाथाओं का अर्थ लगवा लें व कुन्दकुन्द स्वामी के वास्तविक आशय को समझ लें, तो यह बात पूरी तरह सौटंच उतर जावेगी। यदि इतने पर भी कोई अपना एकान्त हठाग्रह न छोड़े तो यह उसके मिथ्यात्व कर्म का प्रबल उदय समझना चाहिये।

बन्धुओ! श्री कुन्दकुन्द स्वामी के एक एक शब्द

में "तारण पंथ" का समर्थन व जड़-मूर्ति का निषेध किया गया है। यह बात तो उनके विशाल ग्रन्थराज श्री अष्ट पाहुड़ वगैरह शास्त्रों में विस्तार से देखिये हमने तो यहां बहुत थोड़ी गाथाएं लिखकर विषय को संक्षिप्तमें ही आपके समक्ष रखा है। क्योंकि विद्वानों को संकेत ही काफ़ी होता है।

अब आगे हम गृहस्थ श्रावकों के कर्तव्य जो श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने बताये हैं उन्हें आपके समक्ष रखते हैं। जिनमें आप देखें, कि कहां पर किस कर्तव्य में पाषाण मूर्ति की पूजा करने की आज्ञा जिनेन्द्र ने दी है।

बन्धुओ! श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों के टीकाकारों ने स्वार्थवश उनकी गाथाओं का खींचतान करके बिलकुल उल्टा अर्थ कर दिया है अत एव आप लोग गाथाओं के वास्तविक अर्थ की ही खोज करके कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञा व आशय को समझें। तथा इनकी टीका टिप्पणी से उसका मिलान कर देखें कि इनके टीकाकारों ने कितनी खींचातानी करके ग्रन्थों की

अविनय व दुर्दशा कर डाली है। उसका फल इनको क्या मिलेगा यह श्री सर्वज्ञ देव ही जान सकते हैं। पाषाण मूर्ति-पूजन करना यह गृहस्थ लोगों के ही कर्तव्यों में बताया जाता है, किन्तु गृहस्थों के कर्तव्य पूरे २ हम आपके सामने रखे देते हैं। उन में आप देखिये कि मूर्ति-पूजा के समावेश होने को जगह कहां है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के सिवाय और भी समस्त जैनाचार्यों ने श्रावकों (गृहस्थों) के कुल कर्तव्य निम्न एक गाथा में ही बता दिये हैं, इनके बाहर श्रावकों के कोई कर्तव्य नहीं हैं। यथा—

दंसणवयसामाइय-

पोसहसचित्तरायभत्ते य।

बंभारंभपरिग्गह-

अणुमणउद्दिट्ठदेसविरदो य ॥२१॥

(चारित्र पाहुड़)

अर्थः—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभ-त्याग,

परिग्रह-त्याग, अनुमति–त्याग तथा उद्दिष्ट–त्याग, ये ग्यारह कर्तव्य श्रावकों के हैं।

यही देशव्रत नाम का पंचम गुणस्थान है। इन्हीं को ग्यारह प्रतिमा या पडिमा तथा प्रतिज्ञा कहते हैं। इन ग्यारह प्रतिमाओं में पहली दर्शन प्रतिमा होती है उस में भव्य जीव सम्यग्दर्शन का लाभ करके संयम की ओर झुकना प्रारम्भ कर देता है इस पहिली प्रतिमा का पाषाण प्रतिमा के पूजन से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी प्रतिमा व्रत प्रतिमा है इसमें सिर्फ श्रावक के बारह व्रतों को ही निरतिचार पालन किया जाने का कर्तव्य होता है। श्रावक के बारह व्रत, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इस प्रकार ये सब मिलकर होते हैं, जिनके नाम व स्वरूपादि सब प्रसिद्ध हैं।

यह दूसरी प्रतिमा ही गृहस्थ श्रावक के मुख्य कर्तव्यों की आदर्श है।

इस प्रतिमा के आगे सामायिकादि प्रतिमाओं में सामायिक प्रोषधादि कर्तव्यों का निरूपण है उनका भी

पाषाण मूर्ति से किंचिन्मात्र संबंध नहीं। समन्तभद्रादि आचार्यों ने भी जहां २ अपने ग्रन्थों में इन ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया है, वहां किसी भी प्रतिमा के स्वरूप में इस पाषाण प्रतिमा की पूजन को जरा भी स्थान नहीं दिया है इस पाषाण प्रतिमा का नाम भी नहीं दिया है तो आगे की बातें तो बहुत दूर हैं। इन्हीं ग्यारह प्रतिमाओं में आचार्यों ने जिनेन्द्राज्ञानुसार उत्तम मध्यम तथा जघन्य ऐसे तीन दर्जे श्रावकों के निश्चित कर दिये हैं अर्थात् छठी प्रतिमा तक जघन्य, नौवीं प्रतिमा तक मध्यम, तथा ग्यारहवीं तक उत्तम, इसके बाद मुनिपद है। जब पाषाण मूर्ति की पूजन करना श्रावकों के कर्तव्यों में ही मू० पू० के द्वारा बताया जाता है, तो फिर श्रावकों के इन उक्त मुख्य कर्तव्यों में क्यों नहीं बताया गया है। जब कि पंचम गुणस्थान के स्वरूप में आचार्यों ने मात्र ग्यारह प्रतिमाओं के नाम दिये हैं, फिर इस गुणस्थान में ग्यारह प्रतिमा के सिवाय यह बारहवीं (स्पेशल) प्रतिमा श्रावक के कर्तव्य में कहां से

आकर प्रविष्ट हो गई।

दिगम्बर आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाओं के नाम में उक्त प्रकार ही अपने २ ग्रन्थों में श्रावकों के कर्तव्य बताये हैं। उक्त ग्यारह प्रतिमा में किसी प्रतिमा का यह आशय नहीं निकलता कि पाषाणादि प्रतिमा का पूजन भी श्रावक का कर्तव्य है।

यह पाषाण पूजन का पुच्छल्ला तो छद्मस्थ, मोही जीवों ने अपने स्वार्थवश अपनी कषाय-पुष्टि के हेतु श्रावकों के पीछे लगा दिया है। यदि यह पाषाण-पूजा केवली-प्रणीत मार्ग होता तो उक्त ग्यारह प्रतिमाओं में ही किसी भी प्रतिमा के रूप में उसकी गिनती होती किन्तु श्रावकों के चारित्र से इस मूर्ति-पूजन का किंचित भी कोई सम्बन्ध नहीं है। जब कि चारित्र व दर्शन तथा ज्ञान इस रत्नत्रयी से पाषाण मूर्ति का कोई सम्बन्ध नहीं, फिर इस मूर्ति-पूजा को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में से क्या नाम देकर स्वीकार किया जा सकता है। मुनि तथा श्रावकों के कर्तव्य के बिलकुल बाहर की चीज यह

मूर्ति-पूजा मानी गई है। इससे मालूम होता है कि यह प्रथा एक लोक-रूढ़ि मात्र है।

जिसको धर्म का रूप देकर भोले जीवों को बहकाया गया है। श्री जिनेन्द्र ने स्वयं इस प्रथा को श्रावक व मुनियों के कर्तव्यों में बिलकुल नहीं गिनाया है।

यह पाषाण मूर्ति की पूजन एक इतनी मामूली लोक-रूढ़ि है कि जैसे आज हम प्रेमवश किसी का फोटो आदि अपने यहां रख लेते हैं। बस, जैसे फोटो वगैरह मोहवश रख लिये जाते हैं। तथा जिसका फोटो होता है वह कभी नहीं कहता, या कह सकता, कि मेरा फोटो तुम अपने घर में लगा लो। ठीक इसी तरह मोहियों ने मोहवश जिनेन्द्र की मूर्ति रख ली है।

किन्तु जिनेन्द्र ने ऐसा नहीं कहा है कि तुम मेरी मूर्ति रखकर पूजना, जिससे तुम्हें मोक्ष होगा। जब जिनेन्द्र ने ही अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा मूर्ति-पूजा को नहीं कहा है, फिर इस लोक-रूढ़ि मात्र को धर्म का रूप देकर पूजना यह कैसा जिनेन्द्र शासन? जिनेन्द्र के

रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर अपनी मन-गढ़न्त बातों को ही धर्म रूप से मोहियों ने स्वार्थ वश चलाकर जिनधर्म का व जैन जाति का इतना ह्रास कर दिया है। भगवान कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने अपने साहित्य में अनावश्यक दि० जैन मूर्ति-पूजा के विषय को इतना स्पष्ट कर दिया है कि शंका व कुतर्क आदि के लिये बिलकुल जगह नहीं। पाषाण मूर्ति के लिये मूर्ति-पूजक लोग जो चैत्य-आयतन, जिन प्रतिमा, जिनबिम्ब आदि कह कर अपनी मूर्ति-पूजा की सिद्धि करते हैं उस पर भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य क्या निर्णय देते हैं जरा सुनिये।

प्रतिमा तथा जिनबिम्ब का स्वरूप हम पहले लिख आये हैं। यहां चैत्य और आयतन क्या है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के शब्दों में ही लिखते हैं–

मणवयणकायदव्वा–
आसत्ता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे–
णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥५॥

(बोध पाहुड)

मय, राय, दोस, मोहो-

कोहो, लोहो य जस्स आयत्ता ।

पंचमहव्वय धारा-

आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

(बोध पाहुड़)

अर्थः—मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषयों को जिन्होंने जीत लिया है । और मद, राग, दोष, मोह, क्रोध, लोभ आदि को जिन्होंने नष्ट करके पंच महाव्रतों को धारण किया हो ऐसे महर्षि मुनिराज ही इस जैनमार्ग में आयतन हैं ।

आगे चैत्यगृह का स्वरूप सुनिये—

बुद्धं जं बोहन्तो-

अप्पाणं चेइयाइं अण्णं च ।

पंचमहव्वय-सुद्धं-

णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

(बोध पाहुड)

अर्थः—जो स्वयं को सावधान रखता हुआ अन्य

जीवों को प्रतिबोधित करे और शुद्ध पंच महाव्रतों को धारण करे वह ज्ञानमय चैत्यगृह जानना चाहिये।

यहां पर आयतन और चैत्यगृह इन दोनों के जितने लक्षण बताए हैं उन में एक भी लक्षण पाषाण की मूर्ति में नहीं घटता।

अत एव इस कथन से श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दि० जैन मूर्ति-पूजा को अनावश्यक सिद्ध किया है।

आगे जिन मुद्रा का कथन श्री गुरु कुन्दकुन्द-आचार्य महाराज कहते हैं—

तववयगुणेहि सुद्धो-

जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।

अरहंतमुद्द एसा-

दायारी दिक्ख सिक्खा य ॥१८॥

अर्थः--तप, व्रत, गुण से शुद्ध जो शुद्ध सम्यक्त्व को जाने व पहिचाने ऐसी अरहंत मुद्रा है। जो दीक्षा तथा शिक्षा-दायक हो सकती है। इस कथन से पाषाण मूर्ति में जिन-मुद्रा की कल्पना का विरोध हो चुका,

क्योंकि उस में तप, व्रत, सम्यक्त्व, आदि का सर्वथा अभाव है जिसमें तप आदि गुण हों वह अरहंत-मुद्रा दीक्षा शिक्षा की दायक होवे। पाषाण आदि की मूर्ति जड़ स्वरूप होने से उक्त गुणों से रहित है, वह जिनमुद्रा नहीं हो सकती है, आगे जिन-मुद्रा के भेद भी कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में सुन लें।

दढसंजममुद्दाए-

इंदियमुद्दा कसाय दढ-मुद्दा।

मुद्दा इह णाणाए-

जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

(बोध पाहुड)

अर्थः—दृढ संयम मुद्रा, इन्द्रिय मुद्रा, कषाय दृढ मुद्रा ये जिन शासन में ज्ञान स्वरूप जिन-मुद्रा कही गई हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज की इस आज्ञानुसार पाषाण आदि की मूर्ति में उक्त लक्षण न घटने से वह जिनमुद्रा नहीं हो सकती, क्योंकि न तो उस मूर्ति में

दृढ़ संयम है, न वह पांच इन्द्रिय वाली ही है। और वह जड़ स्वरूप होने से न कषायों को जीतने वाली ही कही जा सकती है। जब पाषाण की मूर्ति में कोई भी गुण नहीं पाया जाता, तब वह कैसे जिन-मुद्रा हो सकती है? आगे पाषाण मूर्ति को देव कहने वालों के लिये श्री कुन्दकुन्द स्वामी फटकार लगाते हैं।

सो देवो जो अत्थं-

धम्मं कामं सुदेइ णाणं च।

सो देइ जस्स अत्थि-

दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२४॥

(बोध पाहुड)

अर्थः—देव वही हो सकता है जो धर्म, अर्थ- काम तथा ज्ञान को देवे किन्तु उक्त वस्तुएं वही देव दे सकता है जिसके पास ये चीजें हों और जिसके पास उक्त धर्म अर्थ, काम तथा ज्ञान व प्रव्रज्यादि कुछ भी नहीं है वह दूसरों को क्या दे सकता है? इस गाथा में देव की परिभाषा को सुन कर हमारे मूर्ति-पूजक बन्धु यह बतावें

कि आप की वह पाषाण मूर्ति जिसकी आप नित्य प्रति । करते हैं, आप को उक्त धर्मादि तथा ज्ञानादि गुण देती है क्या ? यदि नहीं, तो श्री कुन्दकुन्द स्वामी की आज्ञा भंग करके आप ऐसी गुण रहित मूर्ति को क्यों मानते हैं। आगे श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज तीर्थ का स्वरूप बताते हैं।

जं निम्मलं सुधम्मं-
सम्मत्तं संजमं तवं णाणं ।
तं तित्थं जिण-मग्गे
हवेइ जदि संति भावेण ॥२७॥

(बोध पाहुड़)

अर्थः—निर्मल सुधर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप, ज्ञानादि ही जिन मार्ग में तीर्थ स्वरूप हैं यदि शांति-भाव पूर्वक ये पालन किये जावें। किन्तु आज कल कल्पित तीर्थ तथा मूर्तियों ने इस वास्तविक तीर्थ को नष्ट कर दिया है। जैसे आज संसार में मशीनों के द्वारा सब ही काम होने लगे तथा जिसके फल स्वरूप मनुष्यों ने

अकर्मण्यता धारण कर ली है ठीक उसी प्रकार इन पाषाणों की प्रतिमाओं ने जिनबिम्ब, आयतन, चैत्य-गृह, तीर्थ, पडिमा, आदि सब पर अपना अधिकार करके जीवों को कर्त्तव्य-विमुख कर दिया है। वास्तव में इन मूर्तियों ने जैनधर्म का धार्मिक रूप लेकर जैन सिद्धान्त तथा समाज का कितना ह्रास किया है यह तो प्रत्यक्ष की बात है। इस मूर्ति-पूजा के विषय में पं० बेचरदास जी जैसे धुरंधर विद्वान् अपने "जैन साहित्य मां विकार थवाथी थयेली हानि" या हिंदी में "जैन साहित्य में विकार" नामक ग्रन्थ में क्या लिखते हैं जरा उसका सार भाग ही सुन लीजिए—

"मूर्ति-पूजा आगम विरुद्ध है। इसके लिये तीर्थङ्करों ने सूत्रों में कोई विधान नहीं किया। यह कल्पित पद्धति है।" (लों० शा० म० स०)

यह है पंडित बेचर दास जी की खोज, जो कि मूर्ति—पूजक होते हुए भी उन्होंने सत्य का गला न घोंट कर ज्यों का त्यों उक्त वाक्य कह दिया। इस पर मूर्ति-

पूजकों को विचार करना चाहिये तथा तीर्थङ्करों के सूत्रों से खोज कर उक्त पंडित जी के कथन का विरोध करना चाहिये। जैन सिद्धान्त का और मूर्ति पूजा का परस्पर में बिलकुल ही मेल नहीं बैठता पूर्व पश्चिम जैसी दूरी, कौड़ी मुहर जैसा भेद, आकाश और पाताल जैसा अंतर, इस मूर्ति-पूजा तथा जैन सिद्धान्त में है; जैन सिद्धान्त का जहां से प्रारंभ होता है वहीं से न देख लीजिए। माना कि निश्चय नय में मूर्ति को कोई स्थान नहीं परन्तु व्यवहार नय भी तो इस मूर्ति–पूजा को नहीं अपनाता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हुए जब "तत्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" कह दिया कि जिसका तात्पर्य यह होता है—"प्रयोजन भूत तत्वों का यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है"। अब विचारिये कि आत्मीय-वस्तु श्रद्धान तथा जड़ स्वरूप वस्तु मूर्ति का परस्पर में क्या सम्बन्ध है? प्रयोजन भूत तत्वों के श्रद्धान में मूर्ति का क्या प्रयोजन है? यह है व्यवहार सम्यग्दर्शन में दि० जैन मूर्ति-पूजा की अनावश्यकता। इस पर भी

कुन्दकुन्द आचार्य महाराज का भी खुलासा सुन लें—

जीवादी सद्दहणं—

सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।

ववहारा णिच्छयदो—

अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

(दर्शन पाहुड)

अर्थः—जीवादि प्रयोजन भूत तत्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व, तथा अपनी आत्मा का ही स्वसंवेदन रूप अनुभव युक्त श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। हम पहले ही लिख आये हैं कि इस सम्यग्दर्शन में वस्तु का ज्यों का त्यों श्रद्धान करना ही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य होता है जैसे यदि सामने मूर्ति है तो सम्यग्दृष्टि मूर्ति को मूर्ति ही मानेगा। यदि वह सोने की है तो उसे वह सम्यग्दृष्टि हीरा या पाषाण को न कहेगा।

जब मूर्ति को मूर्ति रूप श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि मूर्ति में अरहन्त को नहीं मानता फिर नमस्कार, वंदन, पूजन किसका करे? यदि सम्यग्दृष्टि मात्र मूर्ति

की पूजन करेगा तो इस बिना प्रयोजन की क्रिया से उसे क्या लाभ, तथा यदि उसको अरहंत समझ कर वंदन पूजन करेगा तो फिर उसका " ज्यों का त्यों " श्रद्धान कहां रहा उसने तो मूर्ति को अरहंत समझ कर उल्टा ही श्रद्धान कर लिया, अत एव सम्यग्दृष्टि को मूर्ति की पूजा करने की आवश्यकता ही नहीं है यदि सम्यग्दृष्टि कहला कर भी मूर्ति-पूजा करता है तो फिर उसे ज्यों का त्यों यथार्थ श्रद्धान वाले सम्यग्दर्शन की जरूरत नहीं अर्थात् इस तरह की उल्टी सीधी क्रिया करने वालों का साथी सम्यग्दर्शन नहीं किन्तु मिथ्यादर्शन होता है। इस बात से यह सिद्ध हुआ कि मूर्ति-पूजा का सम्यग्दर्शन से कतई कोई सम्बन्ध नहीं है।

जब जैन सिद्धान्त के प्रथम ही व्यवहार तथा निश्चय रूप दोनों तरह के सम्यग्दर्शन में मूर्ति-पूजा को जगह नहीं मिलती, फिर आगे सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र सरीखे सिद्धान्तों के समक्ष यदि यह मूर्ति-पूजा का ढोंग जाकर खड़ा हो जावे, तो न जाने इसका क्या हाल हो?

वास्तव में अभी तक सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानादि की दृष्टि ही मूर्ति-पूजा पर नहीं पड़ी है, यह तो न जाने किसकी छत्र छाया में पनप रही है। जिस दिन इस पर इस सम्यक्-त्रयी का दृष्टिपात होगा उस दिन इस (मूर्ति-पूजा) का नामो-निशां भी न रहेगा। यदि सम्यग्दर्शन का किंचित भी संबंध इस मूर्ति-पूजा से होता तो फिर जिनेन्द्र देव "चारों गतियों में सम्यग्दर्शन होता है" यह कभी न कहते वे तो जहां २ मूर्ति का साधन मिलता, वहीं २ सम्यग्दर्शन होना बतला देते। फिर तो बेचारे नारकियों वा तिर्यश्चों की बड़ी ही आफत होती, वे बेचारे कहां की जिन-मूर्ति के दर्शन करके सम्यग्दर्शन को पा सकते? किन्तु जिनेन्द्र का निष्पक्ष-न्याय मूर्ति के पक्ष में तो था नहीं, उन्हें तो वस्तु का स्वरूप समझाना था सो समझा दिया।

अब उसको जो उल्टा समझे सो उल्टा, जो सीधा समझे सो सीधा।

यहां तक तो हुआ श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज

के द्वारा इस तारणपंथ के समर्थन की बात। अन्य जैनाचार्यों के द्वारा जो समर्थन हुआ है उस पर हम इसी ग्रंथ के दूसरे भागों में विचार करेंगे। पाठकों को यहां शंका हो सकती है कि कुन्दकुन्द आचार्य तो पहले हुए तथा तारण पंथ तो तारण स्वामी का चलाया मार्ग है इसका समर्थन पहले से ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने कैसे कर दिया?

इसका समाधान—यह है कि यह तारणपंथ तारण स्वामी की निजी वस्तु नहीं है, यह तो तीर्थङ्करों की बतलाई हुई चीज है। मोक्षमार्ग को ही तारण पंथ कहते हैं, यह कोई मोक्षमार्ग से जुदी वस्तु नहीं है। तथा तारण स्वामी ने यह कोई नया मार्ग नहीं बताया है, उन्होंने तीर्थङ्करों की साक्षी से उन्हीं का मार्ग जीवों को समझाया है। बस, उन्हीं तीर्थङ्करों के तारण पंथ का समर्थन श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है। तथा तारण स्वामी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। अर्थात् तीर्थङ्करों के मोक्षमार्ग (तारणपंथ) का समर्थन उनने

भी किया है।

लोगों की इस भ्रान्ति को दूर करने के लिये कि "तारण स्वामी ने ही पाषाण मूर्ति का खंडन किया है" यह ग्रन्थ पाठकों को भेंट किया गया है। पाठक गण इस ग्रन्थ से समझेंगे कि श्री कुन्दकुन्द आचार्यादि महर्षियों ने इस मूर्ति-पूजा के जड़वाद को किस प्रकार जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल बताकर वास्तविक तारणपंथ का समर्थन किया है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार तो मूर्ति-पूजा सिद्ध हो ही नहीं सकती यह तो निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि पाषाण मूर्ति बेचारी जैन सिद्धान्त से अपना खुद ही कोई तअल्लुक नहीं रखती है। अब मूर्ति-पूजा को ज़बर्दस्ती सिद्ध करने के लिये जो तैयार होते हैं, और अपनी मन-गढ़न्त युक्तियों से मूर्ति-पूजा जो सिद्ध किया करते हैं, उनकी उन कुतर्कों का भी यहां विचार करना ज़रूरी है, क्योंकि इस कुतर्क ने ही तो जैन सिद्धान्त को आज नष्ट भ्रष्ट कर दिया है।

१

सब से पहले हमारे दि० जैन मूर्ति-पूजक बन्धु तारण पंथियों के प्रति यह कहते हैं कि—

श्रावक या गृहस्थ को अवलम्बन के द्वारा ही आत्म-कल्याण का रास्ता मिलता है। और मूर्ति का अवलम्बन यह आत्म कल्याण के मार्ग में आजकल मुख्य माना गया है। इस लिये तारण पंथियों के पास कोई अवलम्बन ही नहीं जिससे वे आत्म कल्याण कर सकें।

इसके समाधान में हमारा उन मूर्ति-पूजक 'बन्धुओं के प्रति यह कहना है कि—

प्रत्येक तीर्थङ्कर के समवशरण में श्री जिनेन्द्र प्रभु की दिव्य ध्वनि रूप "जिनवाणी" का ही असंख्य जीवों ने अवलम्बन ग्रहण किया था, व उसके द्वारा अनेकों ने अपना संसार-बन्धन छुड़ाया था इसे आप भी स्वीकार करते हैं जब कि साक्षात् तीर्थङ्करों ने अपनी उपस्थिति में अपनी वाणी का अवलम्बन देकर जीवों को मोक्षमार्ग में लगाया, फिर आज उस सनातन आदर्श

को (जिनवाणी का अवलंबन) छोड़ कर यह मनोनंत तथा कल्पित मूर्ति-पूजा का अवलम्बन ग्रहण करना तीर्थङ्करों की अवज्ञा करना है। आप ही बतावें समवशरण में जिनेन्द्र ने अपनी वाणीके सिवाय और किस अवलंबन के द्वारा मोक्ष मार्ग का निरूपण किया था ? भाई सा० ! समवशरण में यदि तीर्थङ्कर की वाणी न खिरती तो जीवों को मोक्षमार्ग का लाभ ही न होता। तथा जब अपना प्रयोजन (मोक्षमार्ग का लाभ) ही सिद्ध न होता, तो तीर्थङ्करों का शरण भी कोई न लेता। महावीर स्वामी की दिव्य-ध्वनि जब तक गणधर न होने के कारण बंद रही थी, उस समय का वर्णन जरा शास्त्रों में पढ़िये, कि इन्द्रादि देवों तक में कितनी उथल पुथल मची, और उन्होंने सीमंधर स्वामी के पास जाकर सब कारण जो वाणी न खिरने का था, उसे जाना, और उसका जैसा जो नियोग था, उसे पूरा किया। भला आप बताइये कि साक्षात् केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों के सामने रहते हुए भी इन्द्र देव सीमंधर स्वामी के पास क्यों गये ?

तब कहना होगा कि बिना वाणी के केवल-ज्ञानी भी इन्द्र के मनोरथ को पूरा न कर सके। इस लिये वाणी का अवलम्बन संसार के समस्त अवलम्बनों में सर्वोत्कृष्ट प्रथम और यथार्थ अवलंबन है। जब समवृशरण तक में वाणी को छोड़कर दूसरी चीज काम नहीं देती तो आज यहां बिना वाणी के काम कैसे चल सकता है? फिर यहां उस वाणी के प्राप्त होते हुए भी दूसरे मूर्ति आदि के अवलम्बन को लेने की क्या आवश्यकता है? और फिर वह कौनसी बात है जो जिनवाणी से भी प्राप्त न होकर मूर्ति से प्राप्त होती है? यदि ऐसा है तो फिर तीर्थङ्करों की वाणी में पूर्ण उपदेश न होकर अधूरा या अपूर्ण कथन ही हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। किन्तु बात ऐसी नहीं है, जिनेन्द्र की वाणी में तो किसी भी प्रकार की कमी या त्रुटि नहीं है। फिर तीर्थङ्करों की वाणी से अपने मनोरथों को पूर्ण न करके अपने द्वारा ही कल्पित मूर्ति से अपने मनोरथ को सिद्ध करना यह तो "अपनी अपनी ढपली और अपना २ राग" वाला किस्सा हुआ।

आप मूर्ति के द्वारा जिन २ बातों की पूर्ति होना सिद्ध करते हैं।

उन बातों की पूर्ति जिनवाणी के द्वारा हो सकती है या नहीं? जिनवाणी का ज़रा नियम पूर्वक अवलम्बन लेकर तो देखिये कि आपकी मनोकामनाएं कितनी जल्दी सिद्ध होती हैं।

आप ऐसे दो आदमी लीजिये जो कुछ नहीं जानते सिर्फ कुछ पढ़ना लिखना ही जिनको मालूम है या न भी हो तो उनको पढ़ा दिया जा सकता है तथा, उन दोनों में से एक के द्वारा दो वर्ष तक मूर्ति की पूजा कराई जावे तथा दूसरे से जिनवाणी के अवलम्बन द्वारा स्वाध्याय कराया जावे तथा दो वर्ष के बाद फिर उन दोनों की परीक्षा ली जावे कि ज्ञानादि गुणों में कौनसा व्यक्ति निपुण हुआ है, तब आप को स्पष्ट मालूम होगा कि जिणवाणी अवलम्बन वाला ही ज्ञानादि गुणों का अधिक विकाश अपने अन्दर कर सका है मूर्ति-पूजन वाला तो उतना ही बता सकेगा जितना वह प्रतिदिन करता था।

अब आप ही बताइये कि इस प्रत्यक्ष-हाथ कंगन को आरसी की क्या ज़रूरत है ? आप स्वयं ही इस बात की आज़माइश करके देख लीजियेगा।

संसार में बिना प्रयोजनके कोई भी मनुष्य कोई काम नहीं करता, न करना ही चाहिये। जब हमारे सम्पूर्ण मनोरथ जिनवाणी के अवलम्बन से ही सिद्ध हो जाते हैं फिर बिना प्रयोजन के इस मूर्ति-पूजा के अवलम्बन से कौन सा मनोरथ सिद्ध हो सकता है ?

अपितु कोई भी मनोरथ इस अनावश्यक मूर्ति-पूजा से सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्ति-पूजन की क्रिया व मूर्ति का अवलम्बन बिलकुल अनावश्यक व बिना प्रयोजन का है। तथा जिनवाणी का अवलम्बन यथार्थ प्रयोजन भूत तथा अत्यंतावश्यक है, इस लिये मात्र जिनवाणी का ही प्रयोजन भूत अवलम्बन लेने वाले तारणपंथी भाई ही जिनेन्द्र के सच्चे अनुयायी और उपासक हैं।

२

दूसरी कुतर्क हमारे मूर्ति-पूजक समाज की ओर से तारण पंथियों के प्रति यह पेश की जाती है कि जिनवाणी को नमस्कार करना भी मूर्ति-पूजा है। इस लिये तारण समाज भी मूर्ति-पूजक है क्योंकि जिनवाणी अचेतन है और तारण समाज इस जिनवाणी की उपासक है ? इस कुतर्क का समाधान यह है कि आप जिस मूर्ति-पूजा को स्वयं करते हैं मालूम होता है अभी उसका ही मतलब आपने स्वयं भी नहीं समझा है यदि आप अपनी मूर्ति-पूजा के तत्व से परिचित हो जाते तो यह कुतर्क आपके मन में ही न उठती। भाई सा० ! आप जिस मूर्ति को मानते हैं उस मूर्ति से जिनवाणी की तुलना नहीं हो सकती। हां ! यदि आप तुलना करना चाहते हैं तो आप की मूर्ति तथा जिनवाणी के कागज, स्याही, वेष्ठन, आदि से तुलना हो सकती है। और आप सहर्ष इस तुलना को कर सकते हैं। इस बात को हम भी कहते हैं, कि जैसी मूर्ति जड़ है वैसे ही जिनवाणी के कागज,

स्याही आदि ये भी सब जड़ ही हैं, और मूर्ति के समान ये भी अवंदनीय हैं किन्तु अब आप सुनिये और फिर बाद में जिनवाणी तथा अपनी मूर्ति की तुलना कीजिये, और निर्णय कीजिये कि जिनवाणी और मूर्ति तथा तारण पंथियों की जिनवाणी उपासना, तथा आपकी मूर्ति-पूजा में कितना कौड़ी मुहर जैसा फर्क है। सबसे प्रथम आप यह बात विचारिये कि जिनवाणी के शब्दों में तीर्थङ्करों के जो भाव "दिव्य ध्वनि" खिरते वक्त भरे थे वे ही इन शब्दों में वर्तमान में भरे हैं या नहीं ? तब आप तो इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे कि बराबर, जिनवाणी के शब्दों में वे ही भाव इस वक्त भी मौजूद हैं। जो भाव तीर्थङ्करों के मुखारविन्दों से वाणी खिरते समय उन शब्दों में भरे थे, या जिन भावों को गणधरों ने द्वादशांग में गूंथ कर उन शब्दों में भरे थे। ठीक वही भाव आज भी इन शास्त्र स्वरूप जिनवाणी के शब्दों में भरे हैं। यदि ये ही भाव न भरे होते, तो आज तीर्थङ्करों का तथा गणधरों का सम्पूर्ण आशय ही

नष्ट हो जाता। बस, तारण-पंथी उस भाव को ही नमस्कार करते हैं, जो भाव उन शब्दों में भरा है। तारण पंथी भाई शास्त्र के कागज़ तथा वेष्ठन स्याही आदि वस्तुओं को नमस्कार नहीं करते हैं, न पूजा ही करते हैं जैसा कि आप पाषाणमूर्ति के प्रति करते हैं। इस लिये आप "भाववाद" तथा जड़वाद की तुलना अपनी कुतर्कों से करना चाहते हैं, सो कीजिये, परन्तु कुतर्क ही आखिर आपके हाथ रहेगी जिनवाणी से लाभ आप नहीं उठा सकते हैं तथा मूर्ति कोई मनोरथ सिद्ध नहीं कर सकती यह हम पहले ही कह आये हैं। अन्यथा आप सिद्ध करें, (जैसे हम "जिनवाणी के शब्दों में भाव भरे हैं" ऐसा सिद्ध कर चुके हैं) मूर्ति में कौन से भाव भरे हैं ? और आप कौनसे भावों का वंदन पूजन करते हैं और वे भाव कहां के हैं, और किसके हैं ? और किसने मूर्ति में भरे हैं ?

आप यह भी बतावें कि जैसे हमने "दिव्य-ध्वनि के खिरते वक्त या गणधरों के द्वादशांग गुंथन के वक्त के

ज्यों के त्यों भावआज इस वक्त को जिनवाणी के शब्दों में भी भरे हैं" यह सिद्ध कर दिया है। क्या आप सिद्ध कर सकते हैं कि आप के अरहंत की मूर्ति के अन्दर मूर्तिमान अरहंत के जो भाव अरहंतावस्था में थे वे भाव इस वक्त उनकी मूर्ति में भरे हैं? यदि वे अरहंत के भाव मूर्ति में नहीं भरे हैं तो फिर तो आप पाषाण का ही वंदन पूजन करते हैं। तब तारणपंथियों जैसे आप भाव-वादी नहीं किन्तु जड़वादी हैं। यदि नहीं तो जिन-वाणी के भाव-युक्त शब्दों के समान आप मूर्ति में भी अरहंत के वे क्षायिक भाव सिद्ध करें जो उनमें उस वक्त अरहंतावस्था में थे। हमारे इतने कथन से आप समझ ही गये होंगे कि वास्तव में जिनवाणी के शब्दों का भाव तो वंदनीय है और आपकी पाषाण की मूर्ति में भाव का अभाव अवंदनीय है। अरे भाई! आप की पूज्य मूर्ति का मूर्तिमान उस मूर्ति में है ही नहीं, आप तो केवल मूर्ति के पाषाण को ही पूजते हैं।

किन्तु हमारे शब्दों की मूर्ति का मूर्तिमान " शब्द

का भाव " तो इस वक़्त भी ज्यों का त्यों हमारी जिन-वाणी में विद्यमान है। इस लिये हमारा परम पूज्य वह तीर्थङ्करों, गणधरों आदि का भाव अब भी जिनवाणी के शब्दों में मूर्तिमान होकर विद्यमान है। हम भाव-वादी तारणपंथी तीर्थङ्करों के भी शरीर को वंदन न करके उनके स्वभाव को ही वंदन करते हैं। इस लिये जिनवाणी के शब्द या तीर्थङ्कर के शरीर से हमें कोई प्रयोजन नहीं है, हमें तो कल्याण-कारी शब्दों से प्रयोजन है, चाहे वह तीर्थङ्कर साक्षात् अपनी दिव्यध्वनि द्वारा प्रदान करे या जिनवाणी के शब्दों के द्वारा मिले। यदि आप की पाषाण मूर्ति उन भावों को जिनवाणी या तीर्थङ्करों के समान प्रदान कर सकती हो, जितना ज्ञान-लाभ जिन-वाणी से होता है उतना ही वह बिना जिनवाणी के अवलम्बन लिये दे सकती है, तो वह भी मान्य हो सकती है। यदि पाषाण मूर्ति वास्तव में जिनवाणी के समान बिना जिनवाणी के अवलम्बन के ज्ञान लाभ करा सकती है, तो आप कृपा करके किसी मूर्ख आदमी को मूर्ति के

समक्ष बैठाकर सम्पूर्ण शास्त्रों का उसके द्वारा ज्ञान करा दें; फिर तो आप की मूर्ति का चमत्कार सारे संसार में इस तरह फैल जावेगा जैसे आज महात्मा गांधी के द्वारा अहिंसा का चमत्कार फैला है, जो कि वाणी के द्वारा ही महात्मा गांधी को प्राप्त हुआ था। तथा वाणी के द्वारा ही वे आज संसार को समझा रहे हैं। यह उनकी भाव-भरी वाणी का ही प्रताप है उनके शरीर का या अहिंसा की कोई मूर्ति आदि का नहीं है जो आज अहिंसा का इतना प्रचार हो गया। इस लिये जिनेन्द्रदेव की वाणी ही मान्य है। और मूर्ति अनावश्यक है।

बन्धुवर्य ! आप विचार कीजिये कि जब जिनवाणी के शब्दों द्वारा हमको अपने निजी भावों की प्राप्ति होगी, फिर जिनेन्द्र के प्रति कि जिनकी उस वाणी से हमें वह आत्म-लाभ हुआ है, कितनी श्रद्धा होगी। हम तो स्वयं जिनेन्द्र के भक्त बन जावेंगे। जैसे आज गांधी जी की वाणी से ही उनके करोड़ों भक्त बन गये, वैसे उनके फोटो से कोई एक भी भक्त नहीं बना है। हां आप जैसे

यह भी कह सकते हैं, कि हम फोटो देखकर उनके भक्त बन गये क्योंकि आप तो मूर्ति या फोटो के ही भक्त हैं। आप को दूसरी चीज (गुणों) की क्या ज़रुरत है।

एक बात यहां जानने लायक यह भी है कि महात्मा गांधी जी अहिंसा, सत्य, प्रेमादि सिद्धान्तों को अपनी वाणी द्वारा जब भी समझाते हैं, तब अपने मुख से यह नहीं कहते हैं कि ' भाई ! मेरा फोटो अपने घर में लगाकर अहिंसा आदि के सिद्धान्त को समझना, नहीं तो ये अहिंसा, आदि सिद्धान्त (बिना मेरी फोटोके) बिलकुल न समझोगे " अब हमारे मूर्ति-पूजक भाई यह सवाल कर सकते हैं। कि फिर ये गांधी जी के फोटो वगैरह कहां से आये ? तब हम समाधान करेंगे कि यह सब भक्तों के मोह वा प्रेम का फल है, तथा भक्तों के द्वारा ही फोटो या मूर्ति मार्ग का प्रचार हुआ है व होता है, ठीक इसी प्रकार श्री जिनेन्द्र भी अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा यह नहीं कहते कि " भाई मेरे मोक्षमार्ग सम्बन्धी सिद्धान्त को समझने के लिये मेरी मूर्ति को अपने सामने रख लेना

तब तुम्हें सम्यग्दर्शन आदि समझ में आवेंगे"।

अब कोई पूछ सकता है कि फिर तीर्थङ्करों ने जब अपनी मूर्ति का पूजन अपने मुंह से नहीं उपदेशा, तब ये संसार में इतनी मूर्तियों का प्रचार कैसे हुआ? इसके लिये वही भक्तों वाली बात ही समाधान करने के लिये काफी है। जैसे गांधी जी के चित्र भक्तों द्वारा प्रचार में आये ठीक इसी तरह यह मूर्ति-पूजा भी जिनेन्द्र के भक्तों द्वारा ही आविष्कार होकर प्रचार में आई है। अब यह कोई पूछे कि अपने पूज्य के प्रति प्रेम करके यह व्यवहार करना बुरा है क्या?

तब समाधान में सुनिये। पूज्य के प्रति प्रेम का होना तो स्वभाव सिद्ध बात है। तथा यह कोई बुरी बात भी नहीं है। किन्तु प्रेम यदि प्रेम की हद तक ही रहे तो अति उत्तम है। यदि वह प्रेम अपनी सीमा को उल्लंघन करके कोई दूसरा ही भयंकर रूप पकड़ लेवे, तो बड़ा अनिष्ट हो जाता है। जैसे मान लिया जावे कि गांधी जी की स्कीमों को या अहिंसादि के सिद्धान्त को

छोड़कर भारतवर्ष में घर २ लोग उनकी फोटो को पूज कर ही उसकी खूब भक्ति करने लग जावें, तो क्या भारतवर्ष स्वतंत्र हो जावेगा ? कदापि नहीं। यदि ऐसा एक बार हो भी जावे तो गांधी जी भी स्वयं इसका विरोध करेंगे कि भाई स्वराज्य मिलेगा मेरे अहिंसादि को अमल में लाने से; फोटो को ही पूज २ कहीं मेरा सिद्धान्त नष्ट करके अपना व देश का अनिष्ट मत कर लेना।

यह बात तो गांधी जी अभी विद्यमान हैं इस लिये सम्हल सकती है किन्तु प्रभु महावीर-स्वामी, जिनके मोक्ष मार्ग सिद्धान्त के बदले उसके ही स्थान पर भक्तों के द्वारा चलाया हुआ मूर्ति पूजा का ढोंग धर्म का बाना पहिन कर मोक्ष मार्ग का कैसा सत्यानाश कर रहा है जिसे हम भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं; यह कैसे सम्हले। श्री तारण स्वामी तथा कुन्दकुन्द आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जगह २ यह समझाया है कि जिनेन्द्र के सिद्धान्तों पर अमल करना, उनको अपने में उतारना यह जितना

कीमती है उतनी जिनेन्द्र की भक्ति आदि भी अपनी कीमत नहीं रखते। यह बात स्वामी कुन्दकुन्द आचार्य के भाव पाहुड़ में शब्द २ के द्वारा खूब समझाई गई है। यह हुआ दूसरी कुतर्क के सिलसिले का जवाब, जिसे पाठकों ने खूब समझ कर स्वयं निर्णय अपने हृदय में किया होगा।

अब अपने मूर्ति-पूजक बन्धुओं के प्रति हम सप्रेम निवेदन करते हैं। कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ विचार करके हमारे उक्त विचारों पर वे शीघ्र ही सहमत होकर उनपर अमल करें। जिससे वास्तविक जैनत्व का आदर्श संसार के समक्ष उपस्थित हो। वैसे तो उक्त दो कुतर्कों के समाधान में सैकड़ों कुतर्कों का अकाट्य उत्तर दे दिया गया है। किन्तु फिर आगे कुछ और भी ऐसी कुतर्कें सामने आती हैं कि जिनका उत्तर दे देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

तीसरी कुतर्क हमारे सामने यह पेश की जाती है। कि—

३

चार निक्षेपों में स्थापना भी एक निक्षेप है, इसी से मूर्ति--पूजा की सिद्धि हो जाती है, फिर क्यों तारण पंथी भाई मूर्ति नहीं पूजते ? इस पर समाधान।

चार निक्षेपों में स्थापना निक्षेप जरूर है, और वह संसार में सांसारिक कार्यों में चाहे जितनी सफलता दिलवा कर अपनी दाल गलाता रहे परन्तु मोक्षमार्ग में स्थापना निक्षेप की कोई आवश्यकता नहीं, न इसका मोक्ष-मार्ग से कोई सम्बन्ध ही है। यदि मोक्ष-मार्ग से किसी निक्षेप का सम्बन्ध है तो वह केवल एक मात्र भाव निक्षेप का है क्योंकि वहां (मोक्षमार्ग) में तो " ज्यों को त्यों सरधानो " वाली बात है। इस लिये स्थापना निक्षेप की खिचड़ी मोक्षमार्ग में नहीं पक सकती है, कि चाहे जिस चीज में चाहे जैसी स्थापना करके चाहे जैसा मनमाना ऊधम मचाया जावे।

अब तीर्थंकरों की स्थापना जो मूर्ति आदि में करके भक्त लोग अपने श्री भगवान के प्रति अपनी रस्म अदा करते हैं यह एक सांसारिक रुढ़ि है। इसका मोक्षमार्ग या जैन सिद्धान्त से कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लिये जैन सिद्धान्त या मोक्ष-मार्ग के नाम पर मूर्ति-पूजन करना बिलकुल अनावश्यक है। अतएव स्थापना निक्षेप की आड़में भी मूर्ति-पूजन की सिद्धि करना तथा वह भी मोक्ष या "जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय" के लिये तो बिलकुल ही असफल प्रयत्न है। इस स्थापना निक्षेप की कुतर्क के लिये तो इतना ही समाधान काफ़ी है। यदि इतने पर भी और कुतर्कें इस विषय पर आवेंगी तो उनका समाधान इसी ग्रंथ के अगले भागों में कर दिया जावेगा।

४

अब चौथी कुतर्क आती है कि जैसी फोटो या मूर्ति देखो वैसे ही मनुष्य के भाव हो जाते हैं। इस लिये

शान्त मूर्ति भगवान की छवि के देखने से भी शान्ति-लाभ होता है। इस लिये मूर्ति को पूजन करना ठीक है?

इस कुतर्क पर यह समाधान काफी होगा—जैसे कामिनी वेश्या की फोटो के द्वारा काम रूप भाव हो जाते हैं क्या ठीक इसी प्रकार भगवान जी की शान्त मूर्ति को देखने से जैसे भगवान जी शान्त केवल-ज्ञानी हैं उनका वह केवल ज्ञान स्वरूप भाव शांत मूर्ति के देखने वाले को अनुभव हो सकता है? यदि भगवान की मूर्ति को देखकर उनके केवल ज्ञान रूप शांत-भाव का अनुभव वह दर्शनार्थी कर लेता है तो, बड़े हर्ष की बात है कि बिना प्रयास के ही इतने सस्ते में केवल ज्ञान और शान्ति का लाभ होवे किन्तु यदि केवल ज्ञान स्वरूप शांति न मिलकर मात्र क्षणिक शांति का अनुभव हुआ और मन्दिर के बाहर निकलते ही शेरदिल हो गये, तो फिर यह कैसी शान्ति, और शान्त मुद्रा का दर्शन? ऐसो क्षणिक शान्ति को चाहने वाले बन्धु एकान्तवास करके भी कुछ समय में उक्त क्षणिक शांति से भी अधिक

लाभ कर सकते हैं। जो वस्तु हमको संसार में ही थोड़े से प्रयत्न द्वारा प्राप्त हो सकती है उसके लिये अपने भगवान को कल्पित बना देना और उनसे वह चीज मांगना कितनी बड़ी गलती है? यही बात वैराग्य के विषय में भी लागू हो सकती है कि जब उल्कापातादि के द्वारा वैराग्य हो सकता है, और उस वैराग्य के कारण यहां पद पद पर उपस्थित हैं फिर सिर्फ वैराग्य प्राप्त करने के लिये मूर्ति का अवलंबन करना कितनी बड़ी भूल की बात है। यदि वह मूर्ति द्वारा हुआ वैराग्य स्थायी हो तब तो बेड़ा पार हो लेकिन जब तक मंदिर में रहे तब तक वैराग्य और मंदिर के बाहर निकलते ही कचहरी दुकान आदि की हाय २ आ गई तो क्या लाभ।

भला बताइये इन क्षणिक शांति और वैराग्य की हस्ति-स्नान जैसी क्रिया वहां तक मनुष्य का कल्याण कर सकती है। इस लिये इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस क्षणिक शांति वैराग्य के वास्ते पाषाणादि मूर्ति की शरण ली जाती है, वह शांति बल्कि उससे भी कई गुनी

एकान्त-वासादि में जिनवाणी के द्वारा अध्यात्म रसास्वाद युक्त मिल सकती है। अत एव मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

इस लिये पाषाण की दि० जैन मूर्ति अनावश्यक है जब वह मूर्ति ही अनावश्यक है फिर उसकी पूजन को कौन पूछता है। यह हुआ चौथी कुतर्क का अकाट्य समाधान।

५

अब पांचवीं कुतर्क हमारे सामने यह आती है कि बिना नक्शा के हम कुछ समझ ही नहीं सकते इस लिये नक्शा की ज़रूरत है और मूर्ति एक नक्शा के समान है इस लिये वह पूज्य होनी चाहिये।

अब पाठक जरा इस कुतर्क पर बहुत गौर से विचार करें कि एक विद्यार्थी हिन्दुस्थान के नक्शे में नदी तालाबादि को समझने के लिहाज़ से ही नक्शा देखे तो उसे कोई भी अनुचित नहीं कह सकता, किन्तु यदि वह

विद्यार्थी नक्शे में नदी को समझ लेने पर उसी नक्शे की नदी पर पानी प्राप्त करने के लिये लोटा पटकने लग जावे तो उस विद्यार्थी को देखने वाले सब लोग क्या कहेंगे? इसी प्रकार मूर्ति को देखकर मोक्ष-मार्ग का नक्शा समझने वाले की उसी मूर्ति के सामने उसको ही मोक्ष की दातार समझकर "मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा" करना क्या उस विद्यार्थी की ग़ल्ती जैसी यह बड़ी भारी भूल नहीं है? इससे सिद्ध हुआ कि एक तो मोक्षमार्ग का नक्शा ही मूर्ति से नहीं समझा जा सकता जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, किन्तु—यदि कोई अपनी भूल से ही मूर्ति को मोक्ष-मार्ग का नक्शा समझ बैठे और भूल पर भूल फिर यह करे कि उसी के समक्ष मोक्ष की याचना करे तो वह कदापि सफल न होगा। जैसे वह विद्यार्थी नक्शेकी नदीसे पानी नहीं ले सकता।

भाई सा० लकड़ी के घोड़े पर बैठकर, उसके भरोसे मुसाफिरी नहीं की जा सकती है। किन्तु यह उपयोग जैसे बच्चों के खेल में ही होता है वैसे ही इस नकल से

असल की प्राप्ति होना असम्भव है।

कंकड़ मिट्टी में गेहूं की कल्पना करके बो देने से कोई असल गेहूं की फसल नहीं काट सकता। इसी प्रकार मूर्ति-पूजा के नकली ढोंग के भरोसे पर कोई अजर अमर पद नहीं पा सकता है। चाहे कितनी ही वा कैसी ही पूजा कर डालो।

६

छठी कुतर्क यह है कि जैसे विद्यार्थी प्रतिदिन अभ्यास करता है। उसी प्रकार मूर्ति–पूजन से प्रतिदिन शांति का अभ्यास किया जाता है इस लिये मूर्ति की पूजन हमेशा आवश्यक है।

इस समाधान में पाठक स्वयं विचारें कि विद्यार्थी प्रतिदिन अभ्यास करता है यह हम मानते हैं, किन्तु उसके साथ यह कभी नहीं मान सकते कि विद्यार्थी शुरू दिन जिस कक्षामें बैठा था जन्म भर उसी एक कक्षा में ही पढ़ता रहता है। बल्कि हम यह कहेंगे कि विद्यार्थी

अभ्यास करते हुए कक्षा दर कक्षा आगे बढ़ता है और एक दिन प्रमाण-पत्र लेकर संसार के समक्ष अपनी योग्यता रखकर पुरस्कार पाता है। क्या हमारे पाषाणमूर्ति के पूजक भाई भी विद्यार्थी के समान अभ्यास करते हुए आगे बढ़ते हैं या उसी कक्षा में अपना जीवन का अन्त कर देते हैं ? हमारे ख्याल से मुनि पद लेकर भी यह कक्षा मूर्ति-पूजकों से नहीं छूटती है फिर गृहस्था-वस्था में छूटना तो असंभव बात है। इस लिये इससे सिद्ध हुआ कि एक ऐसी कक्षा कि जिसमें प्रवेश करने पर ऐसी कैद हो जावे कि ज़िन्दगी भर उससे छुटकारा न हो और सार्टिफ़िकट न मिले तो, इससे तो उस कक्षा में भरती होना न होना एक सा ही है जिससे आगे ज्ञान की वृद्धि न कर सके। उस कक्षा ने हित तो कुछ भी न किया बल्कि अहित न जाने कितना कर डाला। इस लिये यह मूर्ति-पूजा की कैद अनावश्यक है।

७

सातवीं कुतर्क आती है कि "हम किसी के भी चेहरे

को देखकर उसके भावों का पता लगा लेते हैं। इसी प्रकार जैसे चेहरा अंतरंग भावों को जान लेने का कारण है, उसी प्रकार मूर्ति भी मूर्तिमान के गुणों को याद कराने का एक कारण होने से पूज्य है। इस कुतर्क का भी समाधान सुन कर पाठक वृन्द निर्णय करें कि यह कुतर्क भी जैन धर्म के कितनी खिलाफ जाती है। श्री उमास्वामी महाराज ने अपने श्री तत्वार्थ सूत्र ग्रंथ में दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में कहा है। कि :—

"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्वमौदयिकपारिणामिकौ च"

अर्थः—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र) औदयिक तथा पारिणामिक ये जीव के स्वतत्व अर्थात् जीव में ही पाये जाने वाले पांच भाव हैं। अर्थात् यह पांच भाव जीव को छोड़कर किसी अन्य अजीवादि द्रव्यों में नहीं पाये जाते।

अब कुतर्क पर जरा गंभीर विचार करने की बात है कि—किसी मनुष्य को देख कर उसके चेहरे से उसके

तत्कालीन भाव को समझ लेना यह तो ठीक है, क्योंकि यह मनुष्य है (जीव है) और उसके चेहरे से उसके भाव समझ लेना कोई बड़ी बात नहीं किन्तु मूर्ति के चेहरे को देखकर उसके भावों को समझना यह एक ऊटपटांग बात है। जब कि मूर्ति स्वयं अचेतन है उसके अंदर भाव-वाली चीज जीवका बिलकुल अभाव है फिर उसके चेहरे को देखकर किसके भावों का पता लगाया जा सकता है ? क्या उक्त पांच भाव अजीवादि द्रव्यों में भी पाये जाते हैं ? यदि पाये जाते है तब तो श्री उमास्वामि जी महाराज के उक्त लिखित सूत्र का " जीवस्य स्वतत्वम्" पद झूठा होता है। और यदि उक्त पांच भाव जीव में ही पाये जाते हैं। ऐसा सूत्रानुसार माना जाता है, तो मूर्तिपूजकों का मूर्ति-पूजन अनावश्यक ठहरता है। मूर्ति के अंदर जीव होता और उसके भाव उसके चेहरे से झलकते तो संभव था कि मूर्ति पूज्य हो जाती किन्तु पू० श्री उमास्वामी म० के उक्त फैसले को देख कर अब किसी की यह हिम्मत ही नहीं हो सकेगी कि,

किसी के भावों की कल्पना किसी भी अन्य मनमाने द्रव्य में कर ली जावे। कोई भी व्यक्ति मेरे चेहरे से मेरे ही भाव पहिचान सकता है। यह नहीं हो सकता कि मेरे चेहरे से कुतर्की के कुतर्क रूपी भाव को समझ लेवे। इसी प्रकार एक अचेतन द्रव्य के द्वारा अरहंत जैसे पूज्य पुरुषों के केवलज्ञानादि जैसे क्षायिक भावों का पता लगा लेने की डींग मारना यह कुतर्की की जैन सिद्धान्त से अनभिज्ञता प्रगट करने वाली बात है। जैन सिद्धान्त के थोड़े से रहस्य को भी समझने वाला उक्त कुतर्क का यह समाधान सुनकर निष्पक्ष न्याय दे सकता है।

वास्तव में बात तो यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार तो मूर्ति-पूजा सिद्ध हो ही नहीं सकती। और जब मनुष्य कोई चीज को सिद्धान्त के प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने से लाचार हो जाता है तब इधर उधर की तुकतान जोड़कर अपनी बात सिद्ध करना चाहता है। उसके दुर्भाग्य से चाहे वह उसकी तुकतान ठिकाने पर लगे या न लगे।

८

आठवीं कुतर्क हमारे सामने आती है (यद्यपि पहले कही गई कुतर्कों के अन्दर ही इसका समावेश हो जाता है किन्तु ज़बर्दस्ती की बात तो ठहरी) कि—बिना मूर्ति के हम कुछ जान ही नहीं सकते। यदि ऐसी बात है तब तो तीर्थङ्करों की वाणी भी ऐसे अभव्य के इस कुतर्क-मयी मिथ्या श्रद्धान को दूर नहीं कर सकती है—

क्योंकि जिनवाणी के रहते हुए यह श्रद्धान कर लेना कि बिना मूर्ति के कुछ नहीं जान सकते, कितना विपरीत मार्ग है।

हम अपने मूर्ति–पूजक बन्धुओं से कहते हैं कि यदि आप मूर्ति से ही सब कुछ जान लेते हैं तब तो जिनेन्द्र ने अपनी वाणी द्वारा उपदेश देकर आप के मतानुसार बड़ी गल्ती की। क्या ज़रूरत थी जिनवाणी की जब कि मूर्ति से ही जिनवाणी का काम निकल जाता।

लोक व्यवहार की अधार्मिक बातों से मूर्ति–पूजा

की सिद्धि करके उसको धर्म का रूप देना यही एक बड़ी भारी भूल है।

भाई साहब! संसार तो संसार ही है सांसारिक बातों से मोक्षमार्ग का कोई सम्बन्ध नहीं, मोक्षमार्ग में कल्पना या असत्य लेशमात्र भी नहीं चलता। यहां तो "याथातथ्यं" की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। और यह आप मूर्ति-पूजकों की जैनागम विरुद्ध मूर्ति-पूजा जिसे आप ज़बर्दस्ती जैन सिद्धान्त के मत्थे पर पटकते हैं, वह तो बिलकुल सांसारिक रूढ़ि है इसका धर्म से या जैन सिद्धान्त तथा मोक्ष मार्ग से और श्रावक मुनियों के कर्तव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। आपके सिर पर भी यह जबर्दस्ती का अनावश्यक बोझ है, यदि आप मोक्ष मार्ग के सच्चे अनुयायी हैं तो।

आप ही जब मूर्ति–पूजा को समझाते हैं तो "उससे पुण्य होता है" यह समझाकर आचार्यों के ग्रन्थों के प्रमाण पेश करते हैं। हम आपसे पूछते हैं कि जब 'सावद्य-लेशो बहुपुण्यराशौ' वाला ही आपका सिद्धान्त है तो

फिर मूर्ति के समक्ष आप अपने इस सिद्धान्त को भी भूल कर मोक्ष की याचना क्यों करते हैं। जब मूर्ति-पूजा मे पुण्य होता है तो जान बूझ कर फिर गल्ती करना, झूठ मूठ मोक्ष फल प्राप्त करने की बात करना यह कितनी बड़ी भूल है। मूर्ति-पूजा में जहां से वह शुरू होती है वहां से लेकर जहां पर उसका अन्त होता है वहां तक सिवाय असत्य बातें और कल्पना से काम लिये उसकी पूर्ति ही नहीं हो सकती है। या यों कहिये कि बिना असत्य और कल्पना के कल्पित दि० मूर्ति की मान्यता ही नहीं हो सकती। सत्यता की तो वहां आवश्यकता ही नहीं है। यदि इस बात पर किसी को शंका हो तो सिर्फ एक दिन हमारे मूर्ति-पूजक भाईयों के मन्दिर जी में जाकर आप देख सकते हैं। कि जैन सिद्धान्त के मुआफिक वहां की क्रियाएं जायज़ हैं या नाजायज़। जब कि मूर्ति को अरहन्त मानकर आप उसकी पूजन करते हैं, फिर— उनको अरहन्त मानकर नहलाना क्या जैन सिद्धान्त के अनुकूल है?

मूर्ति के समक्ष रहते हुए भी आप जो आह्वान क्रिया करके अपने पूज्य को बुलाते हैं, तिष्ठाते हैं, सन्निधिकरण कराते हैं, क्या यह जायज़ है ? जब मूर्ति आपके सामने है फिर पूजन में आह्वान की क्या ज़रूरत है ? यदि ज़रूरत है तो फिर मूर्ति की क्या ज़रूरत है ? और बिनाआह्वान के मूर्ति अपूज्य है तो फिर विसर्जन के बाद भी आप लोग दर्शनादि क्यों करते हैं ? ऐसी एक नहीं अनेक बातें आप मूर्ति–पूजन में विपरीत क्रिया-युक्त करते हैं। जिनका जैन सिद्धान्त से कोई तआल्लुक नहीं है। इस पुस्तक के इस खंड के अन्त में मूर्ति–पूजन के सम्बन्ध में कुछ शंकाएं मुद्रित हैं पाठक उनसे ही मूर्ति–पूजा का पता लगालें क्योंकि इन शंकाओं का मूर्ति-पूजकों के पास कोई सैद्धान्तिक प्रबल प्रमाण है ही नहीं।

जिन वाणी की उपासना ही वास्तव में जिनेन्द्र की सच्ची पूजा है। इस विषय में आचार्यों ने ग्रन्थों में जगह जगह लिखा है देखिये पं० आशाधर जी अपने ग्रंथ में

क्या लिखते हैं :—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽञ्जसा जिनं।
न किञ्चिदन्तरं प्राहु-राप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥

अर्थः—जो जिनवाणी की उपासना भक्ति-पूर्वक करते हैं वे निश्चय से जिनेन्द्र की ही पूजा करते हैं। क्योंकि जिनेन्द्र और उनकी वाणी में किंचित् भी अन्तर नहीं है।



परवार-बन्धु के लेख का जवाब

" परवार बन्धु " के दूसरे वर्ष के ९ वें अंक में सम्पादकीय विचार धारा में एक " तारण समाज के भाइयों से " शीर्षक लेख देकर मूर्ति-पूजा के संबंध में कुछ दलीलें पेश की गई हैं। उनके सम्बन्ध में यहां विचार करते हैं—

परवार-बन्धु के सम्पादक महोदय लिखते हैं:- " जैन आगम में स्याद्वाद की कसौटी हर एक विवाद को दूर करने की " सच्ची कसौटी " है। जैनधर्म न तो एकान्त से मूर्ति-पूजा का समर्थक है और न एकान्त से विरोधी " इस पर हम संपादक जी से पूछते हैं कि जब जैन धर्म एकान्त से मूर्ति-पूजा का समर्थक नहीं है फिर आप मूर्ति-पूजकों ने अपनी मूर्ति-पूजा को एकान्त रूप से क्यों अपनाया ? जैन धर्म के अनेकान्त की रक्षा क्यों नहीं की ? संपादक जी की कुछ शंकाओं का समाधान

हम इस पुस्तक के पूर्व के पृष्ठों में स्वयं लिख आये हैं। आशा है संपादक जी उन पर विचार करके अपना मन्तव्य अपने "परवार बन्धु" द्वारा प्रगट करेंगे। हम यहां संपादक जी की नूतन दलीलों पर विचार करेंगे।

आप लिखते हैं—"गृहस्थ जब कि सांसारिक प्रत्येक मूर्तिमान पदार्थ से प्रीति और वैर करता है क्योंकि उसे समता-भाव जागृत नहीं हुआ, इन्द्रियों के लिये मूर्तिमान विषयों की लालसा नहीं घटी, सुन्दर को देखकर रुचि, कुरूप को देखकर अरुचि पैदा होती है। तब वीतराग मूर्ति को देखकर वीतरागता का भाव क्यों नहीं पैदा होगा ? और वीतरागता को उत्पन्न करने वाली उस पुनीत मूर्ति के इस उपकार को कौन पुरुष मानने से इन्कार करेगा"।

मान्यवर संपादक जी ! यदि अपने अग्र लेख में शास्त्रीय प्रमाणों से अपनी मूर्ति-पूजा की सिद्धि करने बैठते तो संभव है आप स्वयं इस अपनी मूर्ति-पूजा को अनावश्यक समझ लेते किन्तु आप मन-गढ़न्त तर्कों के

आधार पर मूर्ति-पूजा की सिद्धि करना चाहते हैं, यह कैसे होगा ? आप अपनी उक्त दलील में जब यह स्वीकार कर रहे हैं कि—' गृहस्थ को समता-भाव जागृत नहीं हुआ" इस लिये वह संसार के इष्टानिष्ट पदार्थों में रागद्वेष करता है।

संपादक जी साहब ! आप ज़रा खूब विचार कीजिये कि जिसे समताभाव जागृत नहीं हुआ तो जब उपादान ही दुरूस्त नहीं, फिर मूर्ति का निमित्त उसको कैसे ज़बर्दस्ती वीतरागता का भाव पैदा करा सकता है ? और फिर इतनी ज़बर्दस्त कर्म-कालिमा से लिप्त प्राणी यदि मूर्ति के देखने मात्र से वीतरागता का भाव पैदा कर लेवे, तो फिर इस जिनवाणी के " स्वाध्याय, तप " की भट्टी में किसको तपाया जावेगा। श्री जिनेन्द्र के बचन-बाण से ही आत्मा में छिपे कर्म शत्रु वेधे जा सकते हैं। यदि ऐसा न होकर मात्र मूर्ति के दर्शन ही रागद्वेषादि कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर देने की ताकत रखते तो श्री जिनेन्द्र स्वयं ही मूर्ति का प्रतिपादन करते। जिनवाणी की कोई

जरूरत न समझ कर वे इसे, अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा ही न खिराते।

तथा आपने जो लिखा है कि "वीतरागता को उत्पन्न करने वाली उस पुनीत मूर्ति के इस उपकार को कौन पुरुष मानने से इन्कार करेगा ?"

इस पर संपादक जी को विचारना चाहिये कि जब आपके द्वारा सिर्फ आपके लिये वीतरागता को देने वाली मूर्ति पूज्य मानी गई उसके आप कृतज्ञ हैं तब हम आपसे पूछते हैं कि आपके द्वारा तीर्थङ्करों तक को वैराग्य उत्पन्न कराने वाले मेघ पटल, उल्कापात, श्मशान भूमि आदि प्रबल वैराग्य के कारण भी क्यों न पूज्य माने जाकर इनके प्रति कृतज्ञता प्रगट की जावे ?

आगे आप अपनी चौथी दलील पर आप ही विचार कीजिये—

क्या चित्र में बनी हुई गाय दूध दे सकती है ? क्या चित्र में बने हुए मानस्तम्भ द्वारा मान गलित हो सकता है ? (यदि हो सकता है तो आप मानस्तम्भ के

चित्रों का इतना प्रचार कीजिये, कि जिससे संसार के समस्त मानियों का मानमर्दन हो जावे।

क्या समवशरण के चित्र में, वास्तविक समवशरण की असलियत और उस आनंद की प्राप्ति हो सकती है? जो श्री महावीर जिनेन्द्र के समवशरण में था? संपादक जी साहब! कोई संतोष के लिये भले ही गुड़ की जलेबी खा लेवे परन्तु वास्तविक जलेबी की तृष्णा उस गुड़ की जलेबी से शान्त नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार असल की फ़सल काटने के लिये चाहे जितने नकल के बीज बो डालो आखिर नकल ही हाथ लगेगी। चने की खेती करने से गेहूं नही मिलेंगे। आप तो विद्वान् हैं "ज्यों को त्यों सरधानो" "याथातथ्यं विना च विपरीतात्" आदि आचार्य वाक्यों को समझिये कि आप का यह नकल का पाठ पढ़ने वाला उक्त सिद्धान्त वाक्यों से कितनी दूर हो जावेगा।

इस लिये आप व्यर्थ में ही नकल को असल सिद्ध करने की परेशानी में क्यों पड़े हैं? इस तरह की खींचा-

तानी से मूर्ति-पूजा सिद्ध न करके आप अपने परवार-बन्धु के अगले अंक में सैद्धान्तिक प्रमाण और उन जिनेन्द्र वाक्यों को प्रकाशित करें जिन के आधार पर आप की मूर्ति-पूजा चली। इधर उधर की मनगढ़न्त बातों से मूर्ति--पूजा की सिद्धि करके आप तीन काल में भी सफलता न पावेंगे।

इसी प्रकार आप अपनी मूर्ति-पूजा की सिद्धि के लिये अपनी ५ वीं दलीलमें कितना कष्ट उठा रहे हैं, आप लिखते हैं-

" पत्थर की मूर्ति -मूर्ति नहीं, बल्कि वह पत्थर पर लिखा हुआ वीतरागता, निर्ग्रन्थता, और दिगम्बरता का लेख है " भला संपादक जी ! आप बताइये तो सही, उक्त पत्थर पर लिखे हुए वीतरागता के लेख को कौन से लेखक ने लिख डाला ?

उसके लेखक केवली हैं या छद्मस्थ ? यदि केवली द्वारा उस पत्थर पर वीतरागता का लेख लिखा है तब तो हर कोई उसको पढ़ने का उत्सुक होगा।

और यदि हमारे आप के जैसे छद्मस्थ उस लेख के

लेखक हैं। तब तो जिनेन्द्र के आगम लेखों के न रहने पर उस पत्थर के लेख को पढ़ा जावेगा, तब तक उसके रक्षक उसे सुरक्षित रखें, अभी तो जिनेन्द्र के आगम लेख हमारे पास हैं। अब आप यह भी बतावें कि द्वादशांग के लेख किनके लिये हैं और वह पत्थर के लेख किनके लिये? उसका द्वादशांग से कितना सम्बन्ध है।

इसी प्रकार आप अपनी छठी दलील में तो हद कर गये अरहंत शब्द को ही अनावश्यक सिद्ध कर बैठे। कारण कि "शब्द की अपेक्षा मूर्तिसे अरहंतका ज्ञान ज्यादा होता है"। भला आप बतावें कि अरहंत शब्दसे जो अरहंत का भान होता है उससे कितना ज्यादा व कौनसा ज्ञान मूर्ति के द्वारा अधिक हुआ।

वास्तव में यह मूर्ति-पूजा की लोक-रूढ़ि इतनी जबर्दस्त आपके पीछे लग गई है कि अब आपसे छूटना मुश्किल है।

बस, आप इसे मानते आये हैं, इसी लिये इसको धर्म का रूप देकर संसार के समक्ष मोक्षमार्ग की जगह

इसी को सिद्ध कर देना चाहते हैं।

ऐसे एकान्त हठाग्रह को न छोड़ने का जो विश्वास है वही अंध श्रद्धा कहलाती है। आप अपने लेख में ब्रह्मचारी गुलाबचंद जी के लेख के एक "तर्क" शब्द पर इतनी कुतर्कें मात्र लिख कर के ही अपने संपादकीय भार से मुक्त हो गये।

यदि ब्र० जी के पूरे लेख पर आप विचार करते तो आप को निश्चय पूर्वक जैन सिद्धांत के प्रबल प्रमाण ढूंढने पड़ते। परन्तु वे प्रमाण हैं कहां ?

यदि जैनागम के प्रमाणों के आधार पर ही मूर्ति-पूजा सिद्ध कर दी जाती तो यह झगड़ा ही अब तक न चलता, बल्कि कभी से इसका निर्णय हो गया होता। परन्तु स्वयं जैनागम ही मूर्ति-पूजक नहीं है, तब इसी लिये मूर्ति-पूजा की सिद्धि भी नहीं हो सकती। संपादक जी के लेख से साफ़ जाहिर होता है कि मूर्ति-पूजा की भित्ति मात्र तर्क-कुतर्क की बुनियाद पर ही कायम है यदि नहीं तो जैनागम का एक भी जिनेन्द्र-वाक्य

संपादक जी ने क्यों नहीं अपने लेख में लिखा ?

जैसा कि हम अपने इस छोटे से ग्रन्थ में सप्रमाण मूर्ति का विरोध कर रहे हैं। सच बात तो ऐसी है कि—

"भला जब श्रीमत् कुन्दकुन्द आचार्य महाराज सरीखे महान पुरुषों ने पाषाण मूर्ति–पूजा का समर्थन अपने साहित्य में नहीं किया है तो अब उनके खिलाफ़ जाकर कौन धर्मद्रोही बनने को तैयार होगा ?"

परवारबन्धु के उक्त लेखमें तारण समाजके भाइयों पर मूर्ति–पूजा का बोझ ज़बर्दस्ती लद जावे, बस यही लिप्सा शब्द शब्द में ज़ाहिर हो रही है।

परवार बन्धु के संपादक महोदय को मालूम होना चाहिये कि आप के परवार बन्धु ने जैसे कुछ दिन पहले के अपने अन्य संपादकों की छत्र छाया में तारण समाज पर आक्रमण करके अत्याचार किये थे अब आप उस ज़माने के स्वप्न न देखें और न उन संपादकों का अनुकरण ही करें। उस समय तारण समाज ने कुछ न कहा, सब सहन कर लिया, शायद इसी भरोसे पर अब आप भी विचारते होंगे कि हम भी अपना आक्रमण कर देखें।

परन्तु अपने "परिवार" वाली नीति को स्वयं उल्लंघन करके यह आप का "परोपदेशे पाण्डित्यं" अब न चलेगा।

परवारबन्धु के सं० जी ने अपने लेख में अपने मनमाने स्याद्वाद के द्वारा "मुनियों को भी मूर्ति-पूजा करना चाहिये।" यह सिद्ध करने को कोशिश की है हमारे संपादक जी का स्याद्वाद ऐसा विचित्र मालूम होता है कि सब तरफ अपनी मन-मानी चला करके चाहे जिस चीज को चाहे जैसा सिद्ध कर देना चाहता है। जब आपने मुनियों को भी अपने मनमाने स्याद्वाद की छत्र छाया में पाषाण मूर्ति के समक्ष झुका दिया—

तो फिर आप इस मन-माने स्याद्वाद के द्वारा साक्षात् मुक्त जीवों को भी यहां बुला सकते हैं। संभव है इसे मनमाने स्याद्वाद की बदौलत ही आपकी दि० मूर्ति-पूजन में प्रतिदिन आह्वान, स्थापन के द्वारा आप अपने देव, शास्त्र, गुरु को बुलाकर, पूजन करके, विसर्जन के द्वारा बिदा भी कर देते हैं।

वाह, वाहरे आपका स्याद्वाद!

यदि जैन समाजसे यह अनावश्यक मूर्ति-पूजा पृथक हो जावे तो सारा जैन संसार आज एक होकर अपने जैनत्व की छाप दूसरों पर लगाकर अपने वास्तविक जैनादर्श को उपस्थित कर सकता है। जो चीज़ आज कलह और विवाद का कारण बन रही है, समाज की संगठन शक्ति नाश कर रही है; भला वह जैनियों की " मूर्ति-पूजा " कैसे मोक्षमार्ग को प्रदान कर सकती है। जो कलह और विसंवाद को प्रदान करने वाली चीज़ हो उसे मोक्षमार्ग प्रदान करने वाली समझना बड़ी भारी भूल है। और इस भूल को भूल न मानना, भूल बताने वाले की कृतज्ञता न मानना यह तो अकल्याणमय भयंकर भविष्य का ही द्योतक है।

— ५३ क्रिया —

श्रावक की त्रेपन क्रिया—यों तो श्रावक के मुख्य कर्त्तव्य जो ग्यारह प्रतिमाएं हैं जिनका निरूपण इसी पुस्तक में पहले कर आये हैं, वही हैं।

परन्तु श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज की आज्ञा-

नुसार निम्न गाथामें देखिये कि, श्रावक की ५३ क्रियाओं में भी मूर्ति-पूजा नामक कोई क्रिया शामिल नहीं है।

गुण वय तव सम पड़िमा—
दाणं जल-गालणं अणत्थमियं।
दंसण णाण चरित्तं—
किरिया तेवण्ण सावया भणिया ॥

अर्थः—आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह तप, समता, ग्यारह प्रतिमा, चार दान, जलगालन, अनस्तमित, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, ये सब मिलाकर श्रावक की त्रेपन क्रियाएं हैं। जब कि त्रेपन क्रियाओं में भी मूर्ति-पूजा को बिलकुल स्थान नहीं दिया गया है, तब इससे स्पष्ट मालूम होता है कि श्रावक की करने योग्य क्रिया यह मूर्ति-पूजा नहीं है। इस लिये इससे भी मूर्ति-पूजा की अनावश्यकता सिद्ध हो गई।

— षट् कर्म —

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थः—इन षट्कर्मों में श्रावक के देवपूजा नामक

कर्तव्य की आड़ में हमारे मूर्ति-पूजक भाई अपनी मूर्ति-पूजा की सिद्धि करना चाहते हैं।

परन्तु उक्त श्लोक में आचार्य को यदि मूर्ति-पूजा की पुष्टि करनी होती तो वे स्वयं ही अपने श्लोकमें देव पूजा न लिख कर मूर्ति-पूजा शब्द लिख देते। जब आचार्यों ने ही देव-पूजा लिखा है तो इस देव पूजा का अर्थ मूर्ति-पूजा कदापि नहीं होता है। देव की व्याख्यामें मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं। तथा मूर्ति में देव की उपस्थिति नहीं। इस लिये देव तथा मूर्ति दोनों परस्पर में अत्यंत भिन्नता रखते हैं। इस देव पूजा का अर्थ मूर्ति-पूजा नहीं निकल सकता। इसी लिये आचार्य ने मूर्ति-पूजा न बताकर देव पूजा बताई है। इसी से मूर्ति-पूजा की अनावश्यकता सिद्ध हो जाती है।

विचारणीय बातें

दिगम्बर सम्प्रदाय में, तारण पंथ, तेरा पंथ, बीस पंथ आदि पंथों की उत्पत्ति हो जाने का मुख्य कारण है मूर्ति-पूजा। कोई कहता है सचित्त द्रव्य नहीं चढ़ाना, कोई

कहता है चढ़ाना, कोई कहता है मूर्ति-पूजा करना, कोई कहता है नहीं करना; इस विवादका मूल कारण " मूर्ति-पूजा " ही है।

श्री महावीर स्वामी ही यदि इस विषय में निर्णय दे जाते तो यह पंथ और विवाद उत्पन्न न होते। इस लिये स्पष्ट है कि महावीर स्वामी ने मूर्ति-पूजा का आदेश नहीं किया। बल्कि अपनी इच्छानुसार ही मूर्ति-पूजा की प्रवृत्ति करके अपनी २ पूजा विधि गढ़कर भक्त परस्पर लड़ते हैं। तारणपंथ सम्प्रदाय जैनियों में एक ऐसा पंथ है जो श्री महावीर स्वामी की आज्ञानुसार चल रहा है। क्योंकि यदि मूर्ति-पूजा की आज्ञा महावीर स्वामी की होती तो तारण पंथ सम्प्रदाय इसका विरोध क्यों करता? यदि कोई अभी भी सिद्ध करे कि " मूर्ति-पूजा " को श्री महावीर स्वामी ने स्वयं चलाया है तो हम उसकी सत्यता पर विचार करेंगे।

तथा कोई कहता है दस्सा को पूजन करने दो, कोई कहता है नहीं करने दो, कोई कहता है जिनेन्द्रदेव प्राणी मात्र के हैं, कोई कहता है कि बीसा लोगों के ही हैं।

इस विवाद का भी कारण एक मात्र मूर्ति-पूजा है । यदि महावीर स्वामी स्वयं निर्णय कर जाते तो यह दस्सा बीसा का भी झगड़ा नहीं होता। क्योंकि श्री महावीर स्वामी के केवलज्ञान में दस्सा और बीसा दोनों ही झलकते थे फिर उन्होंने दस्सा लोगों पर दया क्यों नहीं की ? अभी जैन मित्र के अङ्कों में पाठकों ने रतलाम तरफ का झगड़ा पढ़ा ही होगा जो नारियल चढ़ाने के कारण ऐसा बढ़ा कि समाज में खूब ही वैमनस्य फैल गया। हमारा सब मूर्ति-पूजक भाइयों से निवेदन है कि वे श्री महावीर स्वामी की आज्ञा को खोजें, और उन्होंने जितनी, जैसी द्रव्यें "मूर्ति-पूजा" के लिये बताई हों वही सब मिलकर प्रेम पूर्वक चढ़ायें। किन्तु महावीर स्वामी ने इस पर तो कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। नहीं तो ऐसा मुख्य प्रतिदिन के कर्तव्य की आज्ञा का लोप इतनी जल्दी कैसे होता ? इसी प्रकार चढ़ी हुई निर्माल्य द्रव्य के विषयमें भी बड़ा झगड़ा होता है । कोई कहता है माली को दो, कोई कहता है पक्षियों को चुगादो, कोई कहता है जलादो, कोई कहता है गढ़वा दो, आदि तरह २ की मन-गढ़न्तें चल रही हैं।

यही एक बड़ा भारी सबूत मूर्ति पूजा की अनावश्यकता का है। अन्यथा श्री महावीर ने 'निर्माल्य द्रव्य का उपयोग क्या हो' इस पर क्यों कुछ नहीं कहा ?

बन्धुओ! इस दि० जैन मूर्ति-पूजा की तह में ज़रा अच्छी तरह से प्रवेश कीजिये आपको सैकड़ों और हजारों बातें इस मूर्ति-पूजा की अनावश्यकता को बताने वाली मिलेंगी। इस दि० मूर्ति–पूजा की पूरी छानबीन तथा उसकी उत्पत्ति वगैरह की बातों पर विचार करने से यह बात बिलकुल अपने आप जैन सिद्धान्त से बाहर की मालूम हो जाती है।

अब हम यहां पर इस दि० जैन मूर्ति-पूजा के विषय की कुछ शंकाएें लिखकर यह पहला भाग समाप्त करेंगे।

तथा इसके दूसरे भागमें, फिर श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज तथा अन्य आचार्यों द्वारा तारण पंथ के समर्थन को प्रकाशित करेंगे। आशा है पाठक वृन्द तारण पंथ समर्थन के इस प्रथम भाग को पढ़कर इसके दूसरे भाग की प्रतीक्षा करेंगे।

अनावश्यक दिगम्बर जैन मूर्तिपूजा

पर—

५१ प्रश्न

१- गुण वंदनीय हैं या आकार ? जो गुण वंदनीय हैं, तो प्रतिमा जो कि गुण रहित है, उसे वंदना क्यों करते हो ? जो आकार वंदनीय है, तो फिर 'गुणाः पूजास्थानं' यह वाक्य असत्य सिद्ध होता है। गुणों की वंदना करने वाले के लिये मूर्ति की कोई जरूरत नहीं है, यदि जरूरत है तो वह गुणों का पुजारी नहीं है, सिर्फ आकार का या जड़ का ही पुजारी कहा जावेगा।

२–पाषाणादि के कल्पित देव बड़े हैं या तीर्थंकरों के गुण बड़े हैं। जो तीर्थंकरों के गुण बड़े हैं तो वे गुण तो कल्पित मूर्ति में हैं नहीं फिर गुण-हीन को वंदना करना मिथ्यात्व है या नहीं।

३–आप मूर्ति में कौन सी अवस्था की कल्पना करके उसका पूजन वंदन करते हैं, अरहंत या सिद्ध, या गृहस्थ।

४–आप प्रतिमा वंदन के अवसर पर किसे नमस्कार करते हैं? जो प्रतिमा को नमस्कार करते हो तो उस समय वीतराग–वंदन नहीं होता है, और वीतराग को वंदन करते हो तो सामने प्रतिमा को वंदन नहीं होता। क्योंकि वीतराग और प्रतिमा ये दोनों भिन्न २ चीजें हैं।

५–तीर्थंकरों के नाम से पाषाण मूर्ति स्थापित करते हो तो यह बताओ कि तीर्थंकरों के समस्त अतिशय और गुण लक्षण सहित स्थापना करते हो, या अतिशयादि को छोड़ कर कोरे तीर्थंकर

भगवान की स्थापना करते हो।

६–आपकी दि० जैन मूर्तिपूजामें कितनी बातें कल्पित तथा असत्य व कितनी बातें सत्य हैं।

७–आपने चार निक्षेप में से स्थापना को तो ग्रहण करके मूर्ति-पूजा का प्रचार किया, किन्तु भाव निक्षेप को क्यों छोड़ दिया? यदि नहीं छोड़ा है तो दोनों एक साथ एक ही वस्तु में कैसे व्यवहृत होंगे।

८–दि० जैन मूर्तियों में जो चिन्ह होते हैं उनका क्या मतलब है, क्या मूर्ति की पूजा होते समय वे चिन्ह भी पुजते हैं, यदि नहीं तो क्यों। चिन्ह तथा मूर्ति में कितना अन्तर है। इसके लिये श्री महावीर स्वामी की आज्ञा क्या है?

९–मूर्ति में पूजन के समय कौन सा निक्षेप तथा पूजन के बाद कौन सा निक्षेप रहता है।

१०–दिगम्बर मुनियों को मूर्तिवंदन करना चाहिये या नहीं? यदि दि० मुनि मूर्ति को वंदन करते हैं तो

फिर मूर्ति का दर्जा मुनियों से बड़ा हुआ। फिर मुनियों द्वारा पूज्य इस मूर्ति का णमोकार मंत्र या चत्तारि-दंडक में नाम क्यों नहीं ?

११-श्री पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति जो फण सहित होती है वह किस अवस्था की है, अरहन्तावस्था या छद्मस्थावस्था की। यदि अरहंतावस्था की है तो उस पर फण क्यों ? क्या अरहन्त के सिर पर फण होना उचित है ? तथा पार्श्वनाथ के पूजन के समय उसकी भी पूजन होती है या नहीं ?

१२-हमारे दि० जैन मूर्ति-पूजक भाई अपनी मूर्ति-पूजा की प्राचीनता को पद्म-पुराण, हरिवंश-पुराण, उत्तर पुराणादि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध करते हैं किन्तु उक्त प्रथमानुयोगके ग्रंथोंमें पूर्वापर विरोध भरा है एक पद्मपुराण सीता जी को जनक की पुत्री और दूसरा उत्तर पुराण उन्हीं सीता जी को रावण की पुत्री कहता है। आदि २ ऐसी अनेक बातें परस्पर विरोध रूप से सिद्ध

हैं। तब ऐसे परस्पर विरोधी ग्रन्थों के आधार को कैसे प्रमाण माना जावे।

जो ग्रन्थ अपने चरित्र नायकों के विषय में मतभेद रखते हैं वे ग्रन्थ मूर्ति-पूजा सरीखे बाह्य विषय पर कहां तक अपना प्रामाणिकपना दे सकते हैं। आप पद्मपुराण को प्रमाण मानते हैं या उत्तर पुराण को; या दोनों को ?

१३–अकृत्रिम चैत्यालयों में कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा है, अकृत्रिम चैत्यालयों की प्रतिमाओं की पूजन कितने द्रव्यों के कौन से द्वारा होती है। उक्त अ० चै० की प्रतिमाओं में चिन्ह हैं या नहीं, नहीं तो क्यों ? हैं तो किस प्रतिमा के किस चीज का चिन्ह है ?

१४–अकृत्रिम चैत्यालयों में जो प्रतिमाएं हैं वे तीर्थंकरों की हैं या किनकी ? तथा वे प्रतिष्ठित हैं या अप्रतिष्ठित ?

१५–प्रतिमापूजन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि।

१६–स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि देवों के विमानों की प्रतिमाओं का पूजन कौन करता है ?

१७–अकृत्रिम चै० में प्रतिमाओं की पूजन प्रतिदिन होती है या कभी कभी।

१८–तीर्थंकर अपनी गृहस्थावस्था में प्रतिमा पूजन करतेथे या नहीं ? नहीं तो क्यों ? हां, तो प्रमाण दो।

१९–मुनियों को प्रतिमा पूजन करना चाहिये या नहीं ?

२०–प्रतिमा पूजन करने का अधिकार किन २ को है तथा किनको नहीं है ?

२१–पांचों पापों का करने वाला प्रतिमा पूजन कर सकता है या नहीं ?

२२–सप्त व्यसन का सेवन करने वाला भी प्रतिमापूजन कर सकता है या नहीं ?

२३–जैसे श्रीपाल राजा का कुष्ठ गन्धोदक लगाने से मैना सुन्दरी ने ठीक किया, क्या यह बात सत्य है। यदि सत्य है तो आज कल के कुष्ठ रोग वालों को गन्धोदक देकर हमारे मूर्ति-पूजक भाई उपकार

करके उनकी रक्षा क्यों नहीं करते ?

२४-प्रतिमा में कितने अतिशय होने चाहिये ? उनके नाम बतावें ?

२५-आज कल अतिशय युक्त प्रतिमाएं कितनी हैं तथा उनका चमत्कार क्या है ?

२६-दीपावली को निर्वाण लाडू क्यों चढ़ाया जाता है ? क्या महावीर स्वामी कह गये थे ?

२७-किसी वर की इच्छा से पूजन विधान करना कौन सी मूढ़ता है ?

२८-जंगल, खेत, बगीचादि कई स्थानों की गढ़ी हुई मूर्तियां क्या स्वप्न देकर निकल सकती हैं ?

२९-मूर्ति-पूजन करना लोक व्यवहार की रूढ़िमात्र है या धर्म ? यदि धर्म है तो दशधर्मों में कौन सा है ?

३०-पंचामृताभिषेक क्यों किया जाता है ? उसके करने वालों को क्या फल मिलेगा ?

३१-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की कौन २ सी क्रियाएं हैं ?

उनमें सत्य कितनी तथा असत्य कितनी हैं ? नाम सहित गिनाइये ?

३२–खारे कुंवां के खारे पानी में क्षीर सागर के जल की कल्पना करके चढ़ाना पुण्य है या पाप ?

३३–खोपड़ा की एक चिटक में नाना प्रकार के व्यजनों की कल्पना करके चढ़ाने में झूठ का पाप लगेगा या पूजन का पुण्य ?

३४–सत्य भाषण करना बड़ा या मूर्ति के भगवान की पूजा करना बड़ा ? आपकी मूर्ति पूजन में पुजारी को सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है या असत्य का ?

३५–यदि सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है तो कुंए के पानी में क्षीर सागर का जल, चिटकों में घेवर बावर कह कर चढ़ाना उसका यह सत्य व्यवहार है या असत्य ?

३६–पूजन में भाव निक्षेप की जरूरत है या नहीं ? यदि है तो आप एक दो भाव निक्षेप वाली पूजन

मुख्य ?

३४–सत्य भाषण करना बड़ा या मूर्ति के भगवान की पूजा करना बड़ा ? आपकी मूर्ति पूजन में पुजारी को सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है या असत्य का ?

३५–यदि सत्य का पाठ पढ़ाया जाता है तो कुंए के पानी में क्षीर सागर का जल, चिटकों में घेवर बाबर कह कर चढ़ाना उसका यह सत्य व्यवहार है या असत्य ?

३६–पूजन में भाव निक्षेपकी जरूरत है या नहीं ? यदि है तो आप एक दो भाव निक्षेप वाली पूजन जो रोज होती हो बताइये ?

३७–क्या आपके यहां पूजन में शासन देवताओं का भी आह्वानन स्थापनादि होता है ?

३८-विसर्जन में जो "लब्धभागा यथाक्रमम्" है उस का क्या मतलब है ?

३९–आपके यहां प्रतिमा के समक्ष प्रतिदिन कितनी

पूजनें होती हैं ? उनका फल अलग २ है या एक सा ?

४०-जब आपके यहां प्रतिमा पूजनमें सभी कल्पित बातें मानी जाती हैं, फिर रेवती रानी ने कल्पितमहावीर के उस कल्पित समवशरण में क्यों नहीं जाकर वहां के परीक्षार्थी क्षुल्लक को नमस्कार किया। उस समवशरण में जैनधर्म के विरुद्ध क्या बात थी ?

४१-रेवती रानी प्रतिमा पूजन करती थी या नहीं ? यदि करती थी तो कल्पित मूर्ति और कल्पित समवशरण में उसने क्या भेद समझ कर समवशरण में जाना अस्वीकार किया।

४२-समन्तभद्र स्वामी ने जो शिवपिण्डीमें से चन्द्रप्रभ जी की मूर्ति निकाली थी वह आजकल कहां है।

४३-प्रतिमा से कौन २ से गुणों का लाभ होता है वे गुण आत्मीय हैं या पौद्गलिक।

४४-अछूत लोग दि० जैन मन्दिर में जाकर वहां की

मूर्ति का अभिषेक पूजनादि कर सकते हैं या नहीं, यदि नहीं तो क्यों ? क्या मूर्ति के कल्पित अरहंतों पर किसी का अधिकार भी रहता है ?

४५--दि० जैन मन्दिरों में जो क्षेत्रपालादि की मूर्तियां द्वार पर रहती हैं उनका क्या प्रयोजन तथा उन पर सेन्दूर वगैरह लगाने का क्या कारण है, क्या उनकी भी पूजन होती है ?

४६--खंडित मूर्ति पूज्य है या अपूज्य। यदि अपूज्य है तो क्यों।

४७--वह कौन सी बात है जिसकी पूर्ति जिनवाणी से न होकर मूर्ति द्वारा होती है। विस्तार से ठीक २ समझाइये।

४८--जब कि सब जिनेन्द्र एक से हैं फिर उनकी मूर्ति और मन्दिरों में भेद क्यों, यदि नहीं तो मूल-नायक की मुख्यता और अन्य मूर्तियों की गौणता क्यों की जाती है।

"मूलनायक" की व्याख्या आप क्या करते हैं।

४९—आजकल के अतिशय क्षेत्रों में आप कौन से अतिशय क्षेत्र का क्या २ चमत्कार का साक्षात्कार करा सकते हैं।

५०—आपके यहां नौकरी से पूजा करने वाला पुजारी जैन ही होता है या अजैन भी।

५१—नौकरी से पूजा करने वाले को पूजन का क्या फल मिलेगा, खाली वेतन या मरने पर स्वर्ग भी।

५२—क्या तीर्थङ्करों की "दिव्य-ध्वनि" द्वारा "मूर्ति-पूजा" का उपदेश हुआ है ?

५३—दि० जैन मूर्ति-पूजा का जैन सिद्धांत के अनुसार मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है ?

५४—दि० जैन मूर्ति की पूजा करते समय जो आह्वनन, स्थापन, सन्निधिकरण तथा विसर्जनादि क्रियाएँ की जाती हैं, इनका पूज्य के प्रति कितना व कौन सा संबंध कब तक के लिये क्यों किया जाता है तथा उक्त क्रियाएं अपने २ नाम के अनुसार क्या वास्तविक अर्थ रखती हैं, या कल्पनामात्र हैं ?

५५–जैन सिद्धान्त के अनुसार जब कि मोक्ष गया हुआ जीव वापिस संसार में नहीं आता फिर आह्वाननादि क्रियाओं के द्वारा किसको बुलाया जाता है किस का स्थापन किया जाता है व किस का सन्निधि-करण, विसर्जन किया जाता है।

५६–दिगम्बर जैन मूर्तियों के समक्ष रहते हुये, फिर आह्वाननादि की क्या आवश्यकता है। यदि मूर्ति के सामने रहते हुये फिर भी आह्वाननादि करने की ज़रूरत है तो फिर मूर्ति की क्या आवश्यकता है, कहीं भी आह्वाननादि होकर पूजन हो सकती है ?

५७–आह्वाननादि क्रियाओं के द्वारा क्या मुक्त जीव या अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु आदि पुजारी की आज्ञा-नुसार पूजन के समय उपस्थित हो जाते हैं, तथा विसर्जन के समय क्या चले भी जाते हैं। यदि उक्त पूज्य पुरुषों का आगमन नहीं होता तो फिर आह्वाननादि क्रियाएं क्या झूठी नहीं हैं ?

५८–कल्पित मूर्ति के सामने कल्पित इन्द्र-पुजारी बनकर कल्पित आह्वाननादि कर के, कल्पित द्रव्यों से, कल्पित पूजा करके पूजा करने वाले को कल्पित स्वर्ग मोक्ष मिलेंगे या वास्तविक ?

५६–दि० जैन मूर्तियों की पूजा जैसे प्रायःभाड़े से ही होती है, क्या मोक्ष भी भाड़े से (किराये पर) मिल सकेगा यदि नहीं तो ये भाड़े के पुजारी द्वारा कराई गई भाड़े की पूजा कहां तक व किसको मोक्ष फल दे देगी ?

६०–पूजन के बाद विसर्जन क्रिया हो जाने पर फिर दि० जैन मूर्ति को आप पूज्य मानते हैं या नहीं ? यदि फिर भी वह पूज्य है तो पूजन के समय बिना आह्वाननके पूजा क्यों नहीं की जाती ?

६१–आह्वाननादि करके पूज्य का विसर्जन कर देना क्या यह उनका अपमान नहीं है ?

६२–यह सब उक्त पूजन की कल्पित क्रियाएं छद्मस्थों द्वारा चलाई गई हैं या केवलियों द्वारा ?

६३-क्या मूर्ति के सामने जल चढ़ा देने से जन्म, जरा, मृत्यु का विनाश हो सकता है ?

६४-क्या मूर्ति के सामने चन्दन चढ़ा देनेसे संसारताप का विनाश हो सकता है ?

६५-क्या मूर्ति के सामने चावलों के अक्षत चढ़ा देने से अक्षय पद मिल सकता है ?

६६-क्या मूर्ति के सामने पुष्प चढ़ा देने से कामवाणों का नाश हो सकता है ?

६७-क्या मूर्ति के सामने नैवेद्य चढ़ा देने से क्षुधारोग का विनाश हो सकता है ?

६८-क्या मूर्ति के सामने दीप चढ़ा देने से मोह रूपी अन्धकार का नाश हो सकता है ?

६९-क्या मूर्ति के समक्ष धूप चढ़ाने से अष्ट कर्मों का नाश हो सकता है ?

७०-क्या मूर्ति के सामने फल चढ़ाने से मोक्ष फल की प्राप्ति हो सकती है ?

७१-क्या मूर्ति के सामने अर्घ्य चढ़ाने से अनर्घ्यपद को

प्राप्ति हो सकती है ?

७२–उक्त आठ द्रव्यों के चढ़ाने से जब मोक्षमार्ग सम्बन्धी आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं फिर अष्ट कर्मों का विनाश करने के लिये जिनेन्द्र ने तप, त्याग आदि तथा मुनिमार्ग आदि का निर्देश क्यों किया ?

७३–मोक्षमार्ग की पूर्ण सिद्धि मूर्ति पूजा से होते हुये भी मुनि–दीक्षा आदि लेकर तप करना क्या भूल नहीं है। जब कि मूर्तिपूजा ही गृहस्थावस्था में मात्र आठ द्रव्य के बदले घर बैठे मोक्ष दे देती है ?

७४–मूर्ति के सामने चढ़ाया हुआ द्रव्य निर्माल्य समझा जाता है तथा उसको खाने वाला नरक निगोद का पात्र समझा जाता है, फिर भारतवर्ष के दि० जैन मूर्तिपूजक मन्दिरों में निर्माल्यद्रव्य देकर ही मालियों को नौकर रखा जाता है, उनको यह द्रव्य खिलाई जाती है यह पाप मूर्तिपूजा करने वालों को लगता है या मालियों को ? नरक

निगोद का पात्र वह निर्माल्य खाने वाला माली है या खिलाने वाले जैनी हैं, या दोनों हैं ? इसका ज़रा खूब खुलासा कीजिये।

७५–माली जब अपने से बचा हुआ निर्माल्य द्रव्य बेचने के लिये बाजार में लाता है तब मांस-भक्षी लोग उस माली से वेअरहन्त मूर्ति के सामने चढ़े हुये केशरिया चावलादि खरीद कर ले जाते हैं और उन्हें मांस के साथ पकाकर खाते हैं, बतलाइये यह पाप माली को, या भगवान को, या मूर्तिको, या जैनियों को, या किसको, या सब को लगता है ? और इस प्रकार आप स्वयं निर्माल्य–भक्षण से बच कर दूसरों को खिलाकर क्या हमारे मूर्ति-पूजक भाई अहिंसाधर्म के पालक कहे जा सकते हैं ?

७६- कहीं २ माली लोग चढ़ी हुई द्रव्य कठरया (किराने के दुकानदारों) को बेच देते हैं और उन से वह निर्माल्य द्रव्य जैनी लोग खरीद कर फिर से पूजन में व खुद के इस्तेमाल में लाते हैं तो क्या इसका

दोष मूर्तिपूजकों को नहीं लगता है ?

७७-मूर्ति और उसकी पूजन का यह कपोल कल्पित मार्ग यदि जिनेन्द्र के द्वारा प्रणीत होता तो इतनी भूलें इसमें नहीं होतीं। मूर्तिपूजा में प्रारम्भ से ही असत्य कल्पनाओं से काम लिया जाता है और अन्त तक सत्य का नाम नहीं, तो क्या ऐसे असत्यमार्ग के उपदेष्टा जिनेन्द्र देव हो सकते हैं ? यह स्वार्थों द्वारा स्वार्थवश चलाया हुआ कपोल-कल्पित मार्ग क्योंकर उपादेय हो सकता है ?

७८-चौबीस तीर्थङ्कर परस्पर एक दूसरे से नहीं मिल सकते ऐसा उनका नियोग है फिर उनकी चौबीस मूर्तियों को साक्षात अरहन्त तीर्थङ्कर कहते हुये भी एक ही जगह परस्पर मिला कर रख देना उक्त नियोग को भंग करके जैन सिद्धान्त को झूठा बनाना है या नहीं ?

७९-मूर्ति को अरहन्त कह कर उसका अरहन्तावस्था में अभिषेक करना क्या जिनेन्द्राज्ञा है ? या मनमानी ?

८०–तत्वार्थसूत्र के तीसरे चौथे अध्याय में श्री उमास्वामी ने तीन लोक का समस्त भूगोल बता दिया है किन्तु अकृत्रिम चैत्यालयों के सम्बन्ध में एक भी सूत्र बनाने का कष्ट नहीं किया सो क्यों ? क्या अकृत्रिम चैत्यालय नहीं हैं, यदि हैं तो भरतक्षेत्र में भी कहीं पर हैं, या भरतक्षेत्र के सब बाहर ही हैं ?

८१–श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने अपने अष्टपाहुड़ में मूर्ति, प्रतिमा, प्रतिबिम्ब का क्या स्वरूप कहा है और वह किनके लिये पूज्य हैं ?

८२–समन्तभद्र आदि आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप कहते हुये श्रावक के कर्तव्यों में मूर्ति-पूजा क्यों नहीं बतलाई ?

८३–पं० जुगलकिशोर जी ने जो मेरी द्रव्य-पूजा नाम की पुस्तक बनाई है वह क्या मुनियों को पाठ करने के लिये या श्रावक को अमल में लाने के लिये ?

८४–श्रावक के कुल बारह व्रत होते हैं उनमें मूर्तिपूजा कौनसा व्रत है या किस व्रतमें गर्भित है ?

८५–मूर्तिपूजा किस के लिये किसने निर्दिष्ट की है ?

८६–क्या मूर्तिमें पसीना आना सत्य बात है यदि नहीं तो अभी खुरई में देवगढ़ के रथोंके समय एक मूर्ति की पसीना आने की पूजकों द्वारा अफ़वाह क्यों उड़ाई गई थी ? अठारह दोषों में पसेव दोष है या नहीं ?

८७–पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में जो मूर्ति के अन्दर पांचों कल्याणकों की कल्पना करके प्रतिष्ठा की जाती है और मूर्ति को आहारादि की चर्या कराई जाती है तो क्या यह सब जिनेन्द्र की आज्ञानुसार ही होता है ?

८८–क्या नक्शे के नदी तालाब आदि में नाव चल सकती है या कागज के फूलों से खुशबू आ सकती है यदि उक्त कागज के फूल खुशबू दे दें तब तो मूर्ति भी मोक्षमार्ग दे सकती है अन्यथा नहीं।

८९–जिनेन्द्र देव ने व्यवहार और निश्चय यह दो नय बताए हैं। निश्चय तो निश्चय ही है किन्तु व्यवहार भी निश्चय का अनुगामी सत्यार्थ है, यह नहीं हो सकता कि निश्चय तो मोक्ष-मार्ग (साक्षात) देवे व व्यवहार उससे एक दम उल्टा असत्य का व कल्पना का पाठ पढ़ाकर धोखे में डाले। झूठा व्यवहार निश्चय के पास तक पहुंचाने में क्या समर्थ हो सकता है?

९० -सिद्धक्षेत्रों पर, पहाड़ों के ऊपर चरण-पादुका तथा यहां मंदिरों में मूर्ति रखी जाती है तो ऐसा क्यों किया जाता है जब कि मूल-स्थान सिद्ध क्षेत्र की टोंकों पर ही मूर्ति नहीं रखी जाती, फिर मन्दिरों में चरणपादुका न रखकर मूर्ति क्यों रखी जाती है। सिद्धक्षेत्रों पर चरण-पादुका तथा मन्दिरों में मूर्ति रखने की क्या यह जिनेन्द्राज्ञा है?

९१–सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है उसका मूर्ति से कितना

घनिष्ठ सम्बन्ध है यदि सम्बन्ध है तो नरकों में कौन से तीर्थङ्कर की मूर्ति को देखकर नारकी जीव सम्यक्त्व लाभ करता है, यदि नरक में बिना मूर्ति के सम्यक्त्व हो जाता है तो फिर यहां पर भी मूर्ति अनावश्यक ही है।

९२–वर्तमान संसार के मूर्तिपूजक दि० जैन मूर्ति की पूजा से कितना व कौन सा लाभ उठा रहे हैं ?

९३–यदि मूर्ति के देखने से वैराग्य होता है तथा वह इतने से कारण से ही पूज्य मानी जाती है तो अभ्रपटल, उल्कापात श्मशान भूमि आदि क्यों न पूज्य माने जावें जिनसे मूर्ति से कई गुना वैराग्य तीर्थङ्करों तक को होता है ?

९४–क्या किसी तीर्थङ्कर को मूर्ति के देखने से वैराग्य हुआ है ?

९५–यह दि० जैन मूर्तिपूजा कब से, किसके द्वारा व क्यों प्रचलित हुई है ?

६६—मूर्तिपूजा से पुण्य मिलता है या मोक्ष, यदि मात्र पुण्य ही मिलता है तो फिर द्रव्य चढ़ाते समय मोक्ष सम्बन्धी सिद्धियां मांग कर पूजन क्यों की जाती है ? पुण्य क्यों नहीं मांगते ?

६७—मूर्ति पूजन का सम्बन्ध पूज्य से है, या पूजक से ? या दोनों से ?

६८—मूर्ति-पूजक दि० जैन समाज की ओर से यह कहा जाता है कि "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" अर्थात् प्रतिमापूजन में थोड़ा पाप होता है किन्तु पुण्य की राशियां लग जाती हैं, जब ऐसा है तो क्या ? जिनेन्द्र देव ने लेश मात्र सावद्य क्रिया करके पुण्यराशि को लूटने की आज्ञा अपने मुखारविंद से स्वयं ही दी है, तो क्या जिनेन्द्र देव अपने सर्वज्ञ-पद से पाप क्रिया करने का उपदेश दे सकते हैं ? चाहे वह पाप लेश हो या विशाल हो किन्तु जिनेन्द्र देव सावद्य क्रिया का उपदेश कदापि नहीं कर सकते। यदि पाप क्रिया करने का उपदेश

जिनेन्द्र स्वयं दे सकते हैं, तो हमारे मूर्ति पूजक भाइयों को यह बात प्रामाणिक ग्रन्थों से सिद्ध करनी चाहिये। तथा यदि जिनेन्द्र देव के वचन बिलकुल निर्दोष ही होते हैं, तो फिर इस "मूर्ति पूजन की वृथा की आज्ञा जिनेन्द्र देव की नहीं है" ऐसा दृढ़ श्रद्धान करके उक्त बन्धु जिनेन्द्र आज्ञानुसार जैन धर्म का पालन करें, तभी उनका कल्याण हो सकता है।

६६–जो पुण्य और पाप दोनों से विरक्त होगा वही आत्म कल्याण का वास्तविक मार्ग पा सकेगा, किन्तु इससे उल्टा जो थोड़ा पाप करके बहुत सी पुण्यराशि लूटने की फ़िक्र में रहेगा, वह क्या आत्म-कल्याण करेगा? तथा जैनधर्म का तो सिद्धान्त यही है कि पुण्य पाप के चक्कर में नहीं पड़ने वाला सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष मार्ग का पथिक है, हां उदय में आये कर्मफल को उसे भोगना यह बात तो दूसरी ही है। जब प्रारंभिक सम्यग्दृष्टि पद

में ही जिनेन्द्र की शिक्षा है कि सम्यग्दृष्टि वही है जो 'जल में भिन्न कमलवत्' संसार में रहे, जो इस तरह के अंतरङ्ग में सम्यग्दर्शन दीपक के प्रकाश से युक्त होगा क्या उसे पुण्यराशि लूटने का चाव हो सकता है ? उसे तो यह उपमा देंगे कि—

चक्रवर्ति की संपदा इन्द्र सरीखे भोग,
काकवीट सम लखत हैं सम्यग्दृष्टी लोग।

जब ऐसी बात है तो फिर आत्मरस का दीवाना यह सुदृष्टि (पुण्य और पाप को एक निगाह से देखने वाला) मूर्ति-पूजा से प्राप्त होने वाली पुण्य राशि जो कि—'सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं"। (यह समस्त पुण्य भी भोगों का मूल है) उसे क्योंकर लेने का लोभ करेगा और अपना समय व्यर्थ व्यतीत क्यों करेगा। इससे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि को पुण्य की चाह नहीं, तथा पुण्य चाहने वाला सम्यग्दृष्टि नहीं। तब मूर्ति-पूजा से पुण्य लाभ सिद्ध करके हमारे मूर्ति-पूजक भाई

पुण्य चाहने वाले मिथ्यादृष्टियों को ही अपनी मूर्ति-पूजा के आडंबर जाल में फंसा सकते हैं, यह बोझ सम्यग्दृष्टि के सिर पर तो लद ही नहीं सकता। इतने पर भी क्या हमारे मूर्ति-पूजक भाई सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य में मूर्ति-पूजा को खींचतान कर प्रविष्ट कर सकते हैं ?

१००-आज कल जो भारतवर्ष में दि० जैन मूर्तियां विद्यमान हैं क्या वे तदाकार हैं या अतदाकार है। क्या आंख, कान, नाक, हाथ, पैर, आदि बना देने से ही तदाकार मूर्ति हो जाती है। या मूर्तिमान के समान ही आकार वाली (हुबहू) मूर्ति तदाकार हो सकती है, क्या हमारे तीर्थङ्कर आज कल की मूर्तियों जैसे ही, उस समय थे ?

यदि नहीं तो फिर यह मूर्तियां तदाकार कैसे हो सकती हैं ? तथा अतदाकार से फिर तदाकार का ज्ञान भी कैसे हो सकता है ?

१०१-प्रतिमा पूजन में जो आरंभ-जनित हिंसादि पाप होते

हैं। उनका फल किस प्रकार का (या कौनसा) मिलता है क्या कहीं शास्त्रों में उस पाप के फल के भी भोगने का वर्णन दिया है, या नहीं ?

१०२–खण्डित मूर्तियों को आप द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा पूज्य मानकर उनकी पूजा क्यों नहीं करते हैं ?

१०३–द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा क्या संसार के समस्त पाषाण या पहाड़ आदि भी आप के द्वारा पूज्य हो सकते हैं ? क्योंकि संभव है इनके परमाणु कभी प्रतिमा रूप रहे हों या आगे प्रतिमा रूप बन जावें ?

१०४–स्थापना निक्षेप से जैसे पाषाण आपके द्वारा पूज्य हो सकता है। क्या नाम निक्षेप द्वारा भी उसी प्रकार कोई जीवधारी या पुद्गल पूज्य हो सकता है जैसे "जैनेन्द्र देव" नाम का व्यक्ति आपके द्वारा पूज्य है या अपूज्य। यदि अपूज्य है तो क्यों। उसकी भी मूर्ति के समान ही नाम निक्षेप की अपेक्षा से पूजा कर लेने में आप को कौनसा पाप लगेगा। और स्थापना निक्षेप से एक पाषाण को

पूज लेने में कौनसा पुण्य लगेगा, ज़रा खूब खुलासा करें।

१०५–मूर्ति में एक साथ कितने निक्षेपों को मानकर आप उसकी पूजा करते हैं ?

१०६–प्रतिमा पूजन में आप भाव निक्षेप का भी आह्वान करके उसे वहां स्थान देते हैं, या विसर्जन करके विदा कर देते हैं। भाव निक्षेप की अपेक्षा मूर्ति पूज्य है वा अपूज्य ?

१०७–स्थापना निक्षेप का मोक्षमार्ग से क्या संबंध है। क्या बिना स्थापना निक्षेप के कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा ?

१०८–स्याद्वाद के सप्तभंगों में से कौनसे भंग द्वारा आप मूर्ति–पूजा को जिनेन्द्र–प्रतिपादित सिद्ध कर सकते हैं ?

१०९–सप्तभंगों में से कौन सी भंग द्वारा आप मूर्ति–पूजन में जिनेन्द्र का आह्वान आदि करके बुलाते बिठाते हैं आप का मनमाना स्याद्वाद क्या मुक्तजीवों को

यहां बुलाकर साक्षात्कार करा देने की भी शक्ति रखता है या मनमाना ही है ?

११०–आप किस नय की सिद्धि करने के लिये ,किस नय के द्वारा मूर्ति-पूजन करके अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करते हैं जिनागम की साक्षी से उसी के अनुकूल बतावें ?

१११–यदि मूर्ति–पूजन करते समय वहां के पंचेन्द्रियों को लुभाने वाले सामान से मूर्ति–पूजक का मन लुभा जावे तो उसे कौनसे पाप का बंध होकर कौनसी गति मिलेगी ?

११२–मूर्ति-पूजन में खूब राग रंग की ज़रूरत है या वीतरागता की ? यदि वीतरागता की ज़रूरत है, तो फिर पेटी, तबले पर पूजन किसको खुश करने के लिये की जाती है इसमें भी पुण्य है या पाप ?

११३–अपने मनोनीत वीतरागियों के सामने रागयुक्त क्रियायें करना उन वीतरागियों की अवज्ञा है या उनका ही आज्ञापालन ?

११४–भक्त, भक्तिरस में कौन २ से कार्य अपने भगवान के प्रति करने का अधिकारी है। या मनमानी भी करके भक्त कहा जा सकता है ?

११५–समवशरण आदि के माड़नों के धुले हुवे चावलादि जब तक माड़ने का विसर्जन न हो तब तक क्या प्रासुक ही रहते हैं ? कौन कौन से माड़नों को कितने २ दिन रखा जाता है ?

११६–पंच कल्याणक प्रतिष्ठा, गजरथ आदि में "सावद्य-लेशो बहुपुण्यराशौ" के अनुसार पाप अधिक होता है ? या पुण्य, या बराबर बराबर ?

११७–आप की दि० जैन सम्प्रदाय की मूर्ति-पूजन सम्बंधी कौन कौन सी व कितनी क्रियाएं हिन्दू सम्प्रदाय आदि की मूर्ति-पूजन से मिलती जुलती हैं ?

यदि अधिकांश क्रियायें समान हैं तो फिर बताइये आपने उनकी नकल करके अपनी मूर्ति-पूजा कायम की, या उन्होंने आपकी नकल करके अपनी मूर्ति-

पूजा कायम की ?

११८-स्वामी दयानंद जी के सत्यार्थ प्रकाश में जो यह निम्न लिखित प्रश्नोत्तर पृष्ठ ३२८ पर लिखे हैं। क्या ये सत्य हैं या झूठ ?

प्रश्न—मूर्ति-पूजा कहां से चली ?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहां से चलाई ?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

आदि २। यदि यह उक्त प्रश्नों के उत्तर झूठ हैं तो फिर आपने सत्यार्थ प्रकाश को मानने वालों के सामने उनको निरुत्तर करने वाला कौन सा प्रमाण पेश किया ?

११९-जिस चीज को श्रावक छूने में भी आगम के अनुसार पाप समझता है उन चीजों का पूजनादि में उपयोग करना क्या मोक्षमार्ग है ? जैसे गोरोचन कस्तूरी आदि।

१२०-यक्ष, यक्षिणी, क्षेत्रपाल, देवी, देवता, नवग्रह

आदि की पूजन करना क्या जैन सिद्धान्त के अनुकूल है ?

१२१–मूर्ति में आह्वान करने पर जब देव आ जाते हैं और उनकी पूजनादि करने से आपको वह स्वर्गीय आनंद प्राप्त होता है तथा आप इन्द्र तक भी बन जाते हैं, जिसके आनंद का पारावार नहीं तब कुछ समय के बाद ही, भगवान का अपने हाथों विसर्जन करके आप उस आनंद से क्यों हाथ धो बैठते हैं ? मेरी समझ से ऐसे आनंद को छोड़कर फिर संसार में संसारियों जैसी हाय २ करना वैसा ही होगा, कि जैसे कोई चिन्तामणि रत्न को पाकर उसे अपने हाथों समुद्र में फेंक दे। यदि चिन्तामणि को समुद्र में फेंक देना फेंक देने वाले की भूल या अज्ञान है तो फिर उपर्युक्त पूजन को प्रारंभ करके इन्द्र बनकर फिर संसारी बन जाने वालों की क्या बुद्धिमानी है ?

१२२–जब कि आप प्रतिमा को देव कहकर पूजते हैं और

उससे वीतरागता मिलती है ऐसा भी आप मानते हैं फिर आप एक गुण वीतरागत्व को मूर्ति में घटा कर केवल एक ही गुण से देव मान बैठे यह कैसा अन्धेर है ! जब कि आप्त का स्वरूप वीतरागीपने के साथ सर्वज्ञत्व और हितोपदेशीपना भी है। तो क्या प्रतिमा में सर्वज्ञत्व और हितोपदेशी-पन भी पाया जाता है ? यदि नहीं तो फिर यह शास्त्र-विरुद्ध बात क्यों की जाती है। जैन शासन के अनुसार देव वही हो सकता है जो वीतरागी, हितोपदेशी, और सर्वज्ञ हो। इन तीन गुणों में से एक भी कम हो वह आप्त नहीं कहला सकता है फिर मूर्ति में यह उक्त तीन गुण नहीं हैं, तो वह "देव" कैसे कहला सकती है ?

१२३-मूर्ति-पूजन करते समय किन कर्मों का आस्रव, बंध होता है ? तथा किन २ कर्मों की निर्जरा होती है ?

१२४-पञ्चकल्याणकों की प्रतिष्ठाओं में गर्भ कल्याणक

के दिन भगवान को किस माता के गर्भ में लाया जाता है ? वहां माता की स्थापना किसमें की जाती है ? तथा पिता भी कोई उस समय माना जाता है या नहीं ?

१२५-प्रतिमा के कल्पित अरहन्तों को जब कि प्रतिदिन स्नान कराया जाता है, नाना प्रकार के पक्वान्न-व्यञ्जन भोजन उनको समर्पण किया जाता है, जब उक्त सांसारिक क्रियायें उनके साथ नित्य प्रति होती हैं तो फिर और भी अन्य क्रियाएं जो बाकी रह जाती हैं, वे उनके साथ की जाती हैं, या नहीं। यदि नहीं तो क्यों ? तथा उक्त राग-पूर्ण क्रियाएं होने पर भी क्या आप के कल्पित अरहंत फिर भी वीतरागी कहला सकेंगे ?

१२६-इसी प्रकार महावीर जी (चान्दन गांव) में भी यह कहा जाता है कि भगवान की प्रतिमा जिस जगह ज़मीन में थी वहां एक गाय का दूध झर जाता था। तो वह दूध क्या वह प्रतिमा झरा लेती थी ?

और यह घटना सत्य है ? तो उस मूर्ति को दूध झरा लेने की क्या आवश्यकता थी ? इसी प्रकार और भी अनेक अतिशय क्षेत्रों के महत्व को बताने के लिये अनेक प्रकार को कपोल-कल्पनायें जो गढ़ीं जाती हैं क्या उनमें से किसी एक का भी वर्तमान में सत्य साक्षात् हो सकता है, यदि नहीं तो उक्त बातें कौनसे आधार से प्रमाण मानी जावें ?

१२७-मूर्ति-पूजक भाई यह कहते हैं, कि कुण्डलपुर के महावीर स्वामी जी की प्रतिमा को जब यवन बादशाह ने खण्डित करने के हेतु अंगुली में टांकी मारी तब उसमें से दूध की धारा बह निकली, क्या यह घटना सत्य है ? या बनाई हुई बात है । यदि सत्य है तो क्या अभी भी दूध की धारा बहाने वाली प्रतिमा आप बता सकते हैं ? या कुण्डलपुर की ही उक्त मूर्ति से दूध झरने का साक्षात्कार करा सकते हैं ?

१२८-मूर्ति में आह्वान करने से जब मुक्त आत्मा उस

में आ जाती है तो फिर मूर्ति सजीव होकर उपदेशादि क्यों नहीं देती ?

१२९-भगवान को अपना पूजन कराना आवश्यक है ? अथवा भक्तों को उनका पूजन करना आवश्यक है ? यदि भक्तों का कर्तव्य नित्य पूजन करने का है तो पाली, पाली से या पुजारी रखकर भगवान की पूजा कराना श्रावक का कर्तव्य कैसा ? पाली से अथवा पुजारी द्वारा पूजन कराना, इससे तो यही मालूम होता है कि पूजन करना श्रावकों का कर्तव्य नहीं किन्तु भगवान अपना पूजन नित्य नियम से किसी के भी द्वारा करा लेना चाहते हैं। तब क्या किसी दिन भगवान की मूर्ति-पूजा न होने से भगवान का उस दिन नुक्सान या अपमान समझा जावे ?

१३०-निश्चय नय से मूर्ति पूज्य है या अपूज्य ?

१३१-व्यवहार नय से मूर्ति पूज्य है या अपूज्य ?

१३२-यदि व्यवहार नय से मूर्ति पूज्य है तो आप मूर्ति को

मूर्ति समझ कर पूजते हैं या और कुछ ? यदि आप मूर्ति को मूर्ति समझ कर पूजते हैं तो पाषाण-पूजन से क्या लाभ ? तथा यदि मूर्ति को भगवान समझ कर पूजते हैं तो—

'जीव अजीव तत्व अरु आस्रव-बंधरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्योंको त्यों सरधानो'॥

इस व्यवहार सम्यग्दर्शन के मुआफिक मूर्ति को भगवान मानकर पूजने से "ज्यों को त्यों सरधानों" कहां रहा ? "मूर्ति में भगवान और भगवान को मूर्ति में" क्या इस प्रकार उल्टे सीधे व्यवहार का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है ? अब व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा जब मूर्ति-पूजा अनावश्यक है तो आप फिर व्यवहार व निश्चय के अतिरिक्त कौन से तीसरे नय से मूर्ति मानते हैं ?

१३३-नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवंभूत, इन सात नयों में से कितने नय मूर्ति के पूजक हैं ?

१३४--आपने अपनी नाटक लीला, तथा कल्पना को ही धर्म का जामा क्यों पहना दिया है ? यदि नहीं तो इन सब आपकी कल्पनाओं का धार्मिकता से क्या सम्बन्ध है ? जैसे मूर्ति से भगवान का पार्ट अदा कराते हैं वैसे ही चाहे जिस स्त्री-पुरुष को इन्द्राणी और इन्द्र बना कर उनसे भी पार्ट अदा कराते हैं, आदि २ ऐसी इन सब लीलाओं का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? यदि इन्हीं नाटक, लीला कल्पना को ही धर्म का जामा पहना दिया जावेगा तो " वत्थुसहावो धम्मो " इसे कौन पूछेगा तथा आप इसका क्या अर्थ करेंगे ? इस प्रश्न का खूब विचार कर सप्रमाण उत्तर देने की कृपा करें।

१३५–मूर्ति–पूजक दि० जैन समाज के अच्छे २ विद्वान् भी कहते हैं कि " तारणसमाज जो शास्त्र या जिन-वाणी को मानती है तो यह जिनवाणी–उपासना भी मूर्ति–पूजा ही है। हम पूछते हैं जब आपने शास्त्र (जिनवाणी) मानने में तारणपंथियों को

मूर्ति-पूजक ठहरा दिया तब फिर पाषाण मूर्ति की पूजा को तारणपंथियों के सिर पर लादने की व्यर्थ कोशिश आप लोग क्यों करते हैं? आप तो अपने मनमें सन्तोष कर लें कि जिनवाणी-उपासक तारण समाज की मूर्ति-पूजा जिनवाणी-उपासना ही है। परन्तु देखते हैं कि आप को सन्तोष न होकर उल्टा क्रोध आता है और आप लोग विचारते हैं कि इन तारण-पंथियों के सिर पर भी कब यह भार लद जावे। पर अब आप ही अपने सिर पर से इस भार को दूर करने की कोशिश कीजिये।

१३६–" मूर्ति–पूजा " इस शब्द की व्याख्या क्या है? मूर्ति–पूजा के सामने मूर्ति (पाषाण) की पूजा है या भगवान की। क्या मूर्ति शब्द का अर्थ भगवान या देव हो सकता है? "मूर्ति–पूजा" इस शब्द से ही साफ़ ज़ाहिर होता है कि मूर्ति की पूजा यानी पाषाण निर्मित जो प्रतिमा, मात्र उसकी पूजा।

जब यह स्पष्ट है फिर मूर्ति शब्द का अर्थ ज़बर्दस्ती खींचतान कर देव या भगवान क्यों किया जाता है। बात करते हैं जिनेन्द्र भगवान की और दौड़ पड़ते हैं मूर्ति की तरफ, यह क्या तमाशा है ?

समाप्त